क्रिया
परिणाम
और
अभिप्राय
-अभयकुमार जैन

卐 ॐ नमः सिद्धेभ्यः 卐

# क्रिया, परिणाम और अभिप्राय
# एक अनुशीलन


लेखक :

**पण्डित अभयकुमार जैन**

(एम.कॉम., जैनदर्शनाचार्य)



प्रकाशक :

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

ए - 4, बापूनगर, जयपुर-302015

प्रथम दो संस्करण - 5 हजार
(01 जनवरी, 2004 से अद्यतन)

तृतीय संस्करण - 3 हजार
(12 नवम्बर, 2004)
महापर्व दीपावली

योग 8 हजार

मूल्य – 10/-

## ✻ अनुक्रम ✻



मुद्रक – प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड, बाईस गोदाम, जयपुर

# प्रकाशकीय

बाह्य-क्रिया और शुभाशुभ परिणामों के तल में बहनेवाली अभिप्राय की धारा का रहस्योद्‌घाटन करनेवाली प्रस्तुत कृति प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। कुछ ही दिन पहले हम इनकी कृति क्रमबद्धपर्यायः निर्देशिका भी प्रकाशित कर चुके हैं।

इस कृति के लेखक पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री स्मारक परिवार के ही सदस्य हैं, जिन्हें 16 वर्ष की उम्र से पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का तथा 18 वर्ष की उम्र से डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का सान्निध्य प्राप्त रहा है।

वे इससे पूर्व पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद, अनेक भक्ति-गीतों की रचना तथा आत्मानुशासन, लघुतत्वस्फोट, नियमसार कलश और समवसरण स्तुति का पद्यानुवाद कर चुके हैं; परन्तु किसी विषय पर स्वतन्त्र पुस्तक लिखने का उनका यह प्रथम प्रयास है, जिसमें उन्होंने अपने 32 वर्षों के अध्ययन-अध्यापन से प्राप्त चिन्तन और लेखन प्रतिभा का उपयोग किया है।

इसकी विषय-वस्तु का आधार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ का सातवाँ अध्याय होने पर भी इसमें उनके मौलिक चिन्तन की स्पष्ट झलक मिलती है।

इस वर्ष दशलक्षण पर्व मुम्बई (दादर) प्रवास के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तत्त्व प्रचार समिति के अनुरोध पर उपस्थित साधर्मी समाज द्वारा इसे प्रकाशित करके जन-जन तक पहुँचाने की भावना से एक लाख रुपये से भी अधिक राशि का सहयोग प्रदान किया गया है, जिनकी सूची अन्यत्र दी जा रही है। हम उन सभी दानदाताओं के हार्दिक आभारी हैं। अत्यल्प समय में लेजर टाइप सेटिंग हेतु पण्डित रमेशचन्दजी शास्त्री तथा प्रकाशन व्यवस्था का दायित्व निर्वाह करने हेतु श्री अखिल बंसल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें आशा है कि यह कृति पाठकों के लिए अभिप्राय की भूल समझकर उसमें छिपे हुए गद्‌दार मिथ्यात्व को समूल नष्ट करने में उपयोगी सिद्ध होगी।

ब्र. यशपाल जैन, एम. ए., जयपुर
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

# अहोभाग्य

मैं ज्ञायक हूँ – यह अनुभूति ही जिनका निर्मल अभिप्राय।
शिवपुरपथ के पंथी मुनिवर भिन्न जानते मन-वच-काय ॥
तीन कषाय चौकड़ी विरहित आनन्द जिनका संवेदन।
निर्ग्रन्थों के चरण कमल में करता हूँ शत-शत वन्दन ॥

कभी सोचा भी न था कि जिनागम का कोई अंश इतना भा जाएगा और उस पर इतना विस्तृत चिन्तन हो जाएगा कि वह स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में आपके कर-कमलों में विद्यमान होगा।

यदि कोई पूछे कि इस पुस्तक में नया क्या है ? तो निश्चित रूप से मेरे पास इसका उत्तर नहीं है। तो फिर यह पुस्तक लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस प्रश्न का भी सन्तोष जनक उत्तर शायद मैं न दे सकूँ।

वस्तुतः आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की अमृत वाणी के माध्यम से आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी विरचित अमरकृति मोक्षमार्ग-प्रकाशक का परिचय मेरे जीवन की अपूर्व निधि है। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के श्रीमुख से इसका गहन विवेचन सुनकर इसकी अपूर्व महिमा और अधिक गहराई से भासित होने लगी। श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर में अनेक वर्षों तक इसका अध्यापन करते हुए इसके रग-रग से परिचित होकर मेरा जीवन सार्थक और सफल हो गया।

इसका सातवाँ अध्याय तो मानो जिनागम का प्रवेश द्वार है। पूज्य गुरुदेव श्री भी मुक्त कण्ठ से इसकी महिमा का बखान करते थे। उनकी उपस्थिति में सोनगढ़ में आयोजित प्रायः प्रत्येक शिविर में इसे उत्तम वर्ग में पढ़ाया जाता था, जो इसके महत्व का प्रबल प्रमाण है। ऐसा कोई स्वाध्याय प्रेमी मुमुक्षु न होगा जिसने इसका स्वाध्याय न किया हो। वर्तमान आध्यात्मिक क्रान्ति की इस अपूर्व लहर ने मुझे भी अपने में डुबो लिया। किसी महापुण्योदय से बाह्य-संयोग भी ऐसे मिले कि जिनागम का पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन ही मेरी जीवन चर्या बन गया। श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ने मुझे जीवन-यापन की चिन्ता से

मुक्त करके अध्यात्म रस पान करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सन् 1971 से दशलक्षण पर्व एवं अन्य अवसरों पर प्रवचनार्थ बाहर जाना प्रारम्भ हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए सातवें अध्याय से बढ़िया सरल माध्यम और क्या हो सकता था ? आगम का अभ्यास करने के बावजूद भी अभिप्राय की भूलों का तलस्पर्शी किन्तु सरल, स्पष्ट और बेलाग विवेचन जैसा इसमें किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

न जाने कब मेरा ध्यान 'सम्यक् चारित्र का अन्यथा स्वरूप' प्रकरण के प्रथम पैराग्राफ में प्रयुक्त क्रिया, परिणाम और अभिप्राय शब्दों पर गया और गत 15-20 वर्षों से ये शब्द सातवें अधिकार पर प्रवचन के केन्द्र बिन्दु बन गए। तब से अब तक सैकड़ों बार इस विषय पर समाज में चर्चा करने का अवसर मिला और इसमें अनेक नए-नए बिन्दु शामिल होते गए।

अनेक छात्रों और साधर्मी बन्धुओं का बारम्बार प्रबल आग्रह होने लगा कि इस चिन्तन को पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जाए। इससे पूर्व पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी अनुवाद करने का तथा अनेक भक्ति-गीत लिखने का अवसर तो मिला था, परन्तु किसी विषय पर पुस्तक लिखने का साहस नहीं कर पाया था।

मेरे मित्र अखिल बंसल कभी-कभी कहा करते 'अभयजी ! आप भी कोई किताब लिख डालो !' तब मुझे तत्काल विचार आता कि "पूज्य गुरुदेव श्री ने अथाह जिनागम का मर्म खोलकर इतना माल परोस दिया है कि सारा जीवन खायें तो भी कम न हो। उनके अनन्य शिष्य डॉ. भारिल्लजी ने भी अध्यात्म के प्रायः प्रत्येक पहलू पर सभी विधाओं में हजारों पेज लिखे हैं, जो लाखों लोगों तक पहुँच चुके हैं , अब मेरे लिए कोई अलिखित विषय ही नहीं बचा और न मुझमें उन जैसी प्रतिभा है। अतः गुरुदेव के प्रवचन एवं छोटे दादा की लेखनी को प्रवचनों और कक्षाओं के माध्यम् से जन-जन तक पहुँचाने के बहाने स्वयं उसका रसपान करना ही श्रेयस्कर है।" ऐसी अनुभूति होने पर भी यह पुस्तक लिखी गई, यही इसके उपादान की योग्यता का प्रबल प्रमाण है।

सन् 2002 में इसका लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ और मई 2002 में देवलाली

में आयोजित प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर अनेक विद्वानों एवं अन्य साधर्मी जनों को इसे टाइप कराके उसकी प्रतियाँ देकर आवश्यक सुझाव देने का अनुरोध किया गया। बालब्रह्मचारी सुमतिप्रकाशजी, पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल जयपुर, पण्डित दिनेशभाई शाह मुम्बई, पण्डित मन्नूलालजी सागर, पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री, नागपुर एवं श्रीमती राजकुमारी जैन जयपुर ने अपने बहुमूल्य सुझावों से अनुग्रहीत किया। सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव श्री रजनीभाई गोसलिया वाशिंगटन से प्राप्त हुए। इन सभी महानुभावों के सुझावों पर विचार करके सभी को आत्मसात् करते हुए पुस्तक को अन्तिमरूप दिया गया और पुनः टाइप कराया गया। इन सभी विद्वज्जनों का मैं हार्दिक आभारी हूँ।

जैन अध्यात्म स्टडी आफ नार्थ अमेरिका (JANA) के संयोजक श्री अतुलभाई खारा ने यह कृति अमेरिका के साधर्मी भाइयों को वितरित कराने की भावना व्यक्त करते हुए इसे दीपावली 2003 तक गुजराती और हिन्दी में प्रकाशित करने की प्रेरणा दी, जिसके फल स्वरूप अन्य सभी कार्यों को गौण करके यही कार्य सम्पन्न करने का प्रयास किया गया। अतः यह कृति आपके कर-कमलों में विद्यमान है।

वास्तव में इसमें जो कुछ भी है वह परम पूज्य पण्डित प्रवर आचार्यकल्प टोडरमलजी एवं पूज्य गुरुदेवश्री का है, मेरा कुछ भी नहीं है। अतः इन दोनों महापुरुषों के चरणों में विनम्र प्रणाम समर्पित करके उनका उपकार स्मरण करता हूँ।

इसप्रकार का यह मेरा प्रथम प्रयास है, अतः इसमें बहुत सी कमियाँ होना स्वाभाविक है। विद्ववज्जनों एवं विज्ञ पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे उनकी ओर ध्यानाकर्षित करने की कृपा अवश्य करें, ताकि उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकूँ। इस कृति के माध्यम से हम सभी अभिप्राय के तल में छुपी हुई भूलों को पहचान कर उसे समूल नष्ट करके मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखने का पुरुषार्थ प्रगट करें – यही हार्दिक कामना है।

*– अभयकुमार जैन*

## चिन्मूरति दृगधारी...!

चिन्मूरति दृगधारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी।।टेक।।

बाहर नारक–कृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परनति तैं नित हटाहटी।।1।।

ज्ञान –विराग शक्ति तैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन–निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटा टी।।2।।

जे भवहेतु अबुध के, ते तस करत बंध की झटाझटी।
नारक–पशु तिर्यन्च विकलत्रय, प्रकृतिन की है कटाकटी।।3।।

संयम धर न सके पै, संयम धारण की उर चटाचटी।
तासु सुयश–गुण को "दौलत" के, लगी रहे नित रटारटी।।4।।

## एक राग-हरनी

परनति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग–हरनी।।टेक।।

तामें शुभ–अशुभ अन्ध, दोय करें कर्मबन्ध।
वीतराग परिणति ही, भवसमुद्र–तरनी।।1।।

जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग।
तावत ही करन–जोग, कही पुण्य करनी।।2।।

त्याग शुभक्रिया–कलाप, करो मत कदाच पाप।
शुभ में होय मगन ना, शुद्धता विसरनी।।3।।

ऊँच–ऊँच दशा धारि, चित–प्रमाद को विडारि।
ऊँचली दशा तैं मति, गिरो अधो–धरनी।।4।।

"भागचन्द" या प्रकार, जीव लहे सुख अपार।
यातें निरधार स्याद्–वाद की उचरनी।।5।।

# भूधर को निकसै...!

अब मेरे समकित सावन आयो ।।टेक।।

वीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीष्म, पावन सहज सुहायो।।1।।

अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटाघन छायो।
बोले विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो।।2।।

गुरू धुनिगरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन वि–हंसायो।
साधक–भाव अंकूर उठे बहु, जित–तित हरष सवायो।।3।।

भूल–धूल कहिं मूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, निज निरचूँ घंर पायो।।4।।

# यह सीख सयानी

जीवन के परिनामनि की यह, अति–विचित्रता देखहु ज्ञानी।।टेक।।

नित्यनिगोद माहि तैं कढ़कर, नर–परजाय पाय सुखदानी।
समकित लहि अन्तर्मुहूर्त में, केवल पाय वरै शिवरानी।।1।।

मुनि एकादश गुणथानक चढ़ि, गिरत तहाँ तै चितभ्रम ठानी।
भ्रमत अर्धपुद्‌गल परिवर्तन, किंचित् ऊन काल परमानी।।2।।

निज परिनामनि की सँभाल में, तातैं गाफिल मत हो प्रानी।
बंध–मोक्ष परिनामनि ही सों, कहत सदा श्रीजिनवर वानी।।3।।

सकल उपाधि निमित्त भावनि सों, भिन्नसुनिजपरनतिकोछानी।
ताहि जानि रूचि ठानि होहु थिर, 'भागचंद' यह सीख सयानी।।4।।

# क्रिया, परिणाम और अभिप्राय एक अनुशीलन

## मङ्गलाचरण

(दोहा)

पञ्च प्रभू को नमन कर, क्रिया और परिणाम।
अन्तरंग अभिप्राय का, वर्णन कर निष्काम ॥
बाह्य क्रिया निर्दोष हो, निर्मल हो निज भाव।
निज की सदा प्रतीति कर, भव का करूँ अभाव ॥

(वीरछन्द)

करूँ नमन श्री वीर जिनेश्वर कुन्दकुन्द आचार्य महान।
मर्मोद्घाटक जिनवाणी के टोडरमल अद्भुत गुणखान ॥
मोक्षमार्ग के महाप्रकाशक अद्वितीय सप्तम अध्याय।
गुरुकहान अद्भुत व्याख्याता क्रिया और परिणति अभिप्राय ॥

मैं हूँ एक अभेद त्रिकाली ज्ञायक – यह निर्मल अभिप्राय।
प्रगट करूँ, अरु निज परिणति में समता रस का बहे प्रवाह ॥
बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ दशा आचरण करूँ आगम अनुसार।
रत्नत्रय की नौका चढ़कर शीघ्र लहूँ भव-सागर पार ॥

मैं नर-नारी, सुखी, दुःखी अरु पर का मैं कर्त्ता भोक्ता।
यह मिथ्या अभिप्राय वमन कर भेदज्ञान को भजूँ सदा ॥
राग-देष अरु पुण्य-पाप की ज्वाला शान्त करूँ जिनराज।
वीतराग-विज्ञान पूर में हे प्रभु ! डूब रहा मैं आज ॥

*प्रस्तुत कृति की आधारभूत मूल पंक्तियाँ*

## सम्यक्-चारित्र का अन्यथारूप

बाह्य क्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नही है और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है।

परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है, उसका विचार नहीं करते।

और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है।

इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति होगा।

*– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी :*

*मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-238*

# अध्याय

## भूमिका

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि प्रत्येक प्राणी दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करना चाहता है। तीर्थंकर भगवन्तों की दिव्य-देशना का मूल प्रयोजन भी प्राणियों को दुःख से मुक्ति का मार्ग बताना ही है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी ने इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए छहढ़ाला की रचना की है। प्रथम ढ़ाल के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं :-

**जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहें दुःखतें भयवन्त।**
**तातें दुःखहारी सुखकार कहें सीख गुरु करुणाधार॥**

यह जीव अनादिकाल से पञ्च परावर्तन करता हुआ अनन्त दुःख उठा रहा है। भव-परावर्तन करते हुए यह अनन्त भव धारण कर चुका है। यद्यपि यह अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण करके नवमें ग्रैवेयक में जन्म धारण कर चुका है, तथापि इसे मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं हुआ। दो हजार सागर से कुछ अधिक की उत्कृष्ट स्थिति लेकर यह अनन्त बार त्रस हुआ, जिसमें 740 सागर नरक में और 1260 सागर स्वर्ग में बिताने का उल्लेख भी शास्त्रों में आता है।[1] अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि अनन्त बार स्वर्ग में जन्म लेने के लिए इस जीव ने तदनुकूल शुभभाव और बाह्य-धर्माचरण भी अवश्य किया होगा, अन्यथा इसे नवमें ग्रैवेयक जैसा भव कैसे मिलता ?

---

1. धवला पुस्तक 9 पृष्ठ 298, त्रस राशि की अन्तर प्ररूपणा, उद्धरण क्रमांक 124-125

मिथ्यात्व और अज्ञान दशा में भी यह जीव मन्द कषायों के कितने उत्कृष्ट बिन्दु तक पहुँच जाता है – इसका उल्लेख करते हुए आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी लिखते हैं :–

**"द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं, और पञ्च परावर्तनों में इकतीस सागर पर्यन्त देवायु की प्राप्ति अनन्त बार होना लिखा है; सो ऐसे उच्चपद तो तभी प्राप्त करे, जब अन्तरंग परिणाम पूर्वक महाव्रत पाले, महामन्द कषायी हो, इसलोक-परलोक के भोगादिक की चाह न हो; केवल धर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे। इसलिए द्रव्यलिंगी के स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है; सो सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।"[1]**

सम्यज्ञान की महिमा के प्रकरण में बाह्याचरण और शुभ परिणामों मात्र की निरर्थकता बताते हुए कविवर पण्डित दौलतरामजी छहढाला की चतुर्थ ढाल के पाँचवे छन्द में लिखते हैं :–

**कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,**
**ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।**
**मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो,**
**पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥**

इसी आशय के मार्मिक विचार श्रीमद् राजचन्द्रजी ने निम्न पँक्तियों में व्यक्त किये हैं :–

**यम-नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।**
**वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दिया ॥1॥**

**मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो।**
**जप भेद जपे तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासी लहि सबपै ॥2॥**

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-243

**सब शास्त्रन के नय धारी हिये, मत मण्डन खण्डन भेद लिये।**
**वह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो ।।3।।**

**अब क्यों न विचारत है मन में, कछु और रहा उन साधन सें**
**बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल है कि बात कहे ? ।।4।।**

उक्त विवेचन से निम्न तथ्य फलित होते हैं :–

(1) इस जीव ने अनन्त बार महाव्रतादिकरूप शुभक्रियाऐं की हैं।

(2) शुभक्रिया करते हुए इसके परिणाम शुभभावरूप हुए हैं और 11 अंग 9 पूर्व का क्षयोपशमज्ञान भी हुआ है।

(3) शुभाचरण और शुभ परिणाम होने पर भी इसे आज तक मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हुई।

अतः यह सहज ही प्रश्न उठता है कि शुभाचरण और शुभभाव होने पर भी आज तक मोक्षमार्ग क्यों नहीं हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर खोजना ही प्रस्तुत अनुशीलन का एकमात्र उद्देश्य है। उक्त पंक्तियों में भी श्रीमद्जी ने विचार करने की प्रेरणा देते हुए कहा है:– "**अब क्यों न विचारत है मन में कछु और रहा उन साधन सें।**"

यहाँ हम मात्र इस तथ्य की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि उक्त उल्लेखों के अनुसार शुभक्रिया और शुभपरिणाम होने पर भी मोक्षमार्ग नहीं हुआ तो अब तीसरा कौन-सा कारण शेष रह गया, जिसके कारण मोक्षमार्ग नही हो पाया ? अतः सुधी पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि इस प्रकरण को द्रव्यलिंगी मुनि की निन्दा-प्रशंसा या शुभभावों के विरोध या समर्थन के सन्दर्भ में न देखकर मात्र क्रिया, परिणाम और अभिप्राय के अनुशीलन के सन्दर्भ में ही ग्रहण करें; तभी आप इस विषय को हृदयंगम करके जिनागम के मार्मिक एवं सर्वाधिक प्रयोजनभूत रहस्य से परिचित हो सकेंगे।

यहाँ हमारा उद्देश्य शुभाचरण या शुभभाव हेय है या नहीं – इस तथ्य की मीमाँसा करना नहीं है और न ही किसी व्यक्ति की मीमाँसा करना है।

प्रश्नः– यदि आपका उद्देश्य मात्र क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का विश्लेषण करना है, किसी की निन्दा प्रशंसा करना नहीं, तो फिर प्रारम्भ से ही शुभाचरण और शुभभावों के होने पर भी मोक्षमार्ग न होने की बात क्यों उठाई गई है ?

उत्तरः– उक्त तथ्य स्पष्ट हुए बिना हम 'अभिप्राय' की खोज के लिए प्रयत्नशील ही नहीं हो सकते। यदि शुभक्रिया और शुभभाव मात्र से मोक्षमार्ग हो जाता तो अभिप्राय की चर्चा करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः इस विषय पर गम्भीर मनन–चिन्तन आवश्यक है।

---

*प्रश्न –*

1. *यह जीव क्या चाहता है और किससे डरता है ?*
2. *इस जीव ने सुखी होने के लिए अनन्तबार कौन से प्रयत्न किये और उनका क्या फल मिला ?*
3. *इस अनुशीलन का उद्देश्य क्या है ?*

***

# अध्याय

## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का स्वरूप

यद्यपि मोक्षमार्ग प्रकाशक के चौथे से सातवें अधिकार में किये गये मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के निरूपण में अभिप्राय की विपरीतता का ही वर्णन है, तथापि 'सम्यक्चारित्र के अन्यथा स्वरूप' का वर्णन प्रारम्भ करते हुए पण्डितजी ने 'क्रिया', 'परिणाम' और 'अभिप्राय' शब्दों का स्पष्ट प्रयोग करके अभिप्राय पर विशेष वजन दिया है। उनके निम्न विचार ही हमें उक्त तीनों शब्दों के बारे में गहन चिन्तन करने के लिए प्रेरित करते हैं :-

**''तथा इनके सम्यक्चारित्र के अर्थ कैसी प्रवृत्ति है, सो कहते हैं :-**

**बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है, परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।''**[1]

उक्त पंक्तियों में प्रयुक्त तीनों शब्दों का यहाँ अपना विशिष्ट अर्थ है जो प्रचलित अर्थ से भिन्न है। इन तीनों बिन्दुओं पर विस्तृत चर्चा करने के पहले उनका प्रासंगिक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पृष्ठ 238

(1) **क्रिया** :- सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक द्रव्य में एक पर्याय का व्यय होकर दूसरी पर्याय उत्पन्न होना अर्थात् पर्यायों का बदलना 'क्रिया' कहलाता है। कविवर पण्डित बनारसीदासजी के शब्दों में :-

**कर्ता परिणामी दरब, कर्मरूप परिणाम।**
**किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥[1]**

'क्रिया' शब्द का उक्त अर्थ होने पर भी यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। पण्डित टोडरमलजी ने 'बाह्य क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे हम संक्षेप में 'क्रिया' शब्द से सम्बोधित करेंगे। अतः 'क्रिया' शब्द से आशय लौकिक अथवा धार्मिक शारीरिक क्रियाओं से है। खाना-पीना, उठना बैठना, चलना, खड़े रहना, नहाना अथवा बोलना तथा इनसे विपरीत कार्य अर्थात् उपवास करना, मौन रहना, भक्ति, पूजा, दया, दान, व्रत, शील, संयम आदि सभी कार्य 'क्रिया' शब्द से वाच्य हैं और पुद्गल की पर्यायें हैं।

(2) **परिणाम** :- यहाँ 'परिणाम' शब्द का अर्थ आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि चारित्र गुण के विकारीभावों अथवा निर्मल वीतरागीभावों से है। प्रायः ये परिणाम ही बाह्यक्रिया के निमित्त होते हैं। यद्यपि लोक में 'परिणाम' शब्द 'फल' अर्थात रिजल्ट के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है[2] परन्तु यहाँ तो इस शब्द सें जीव के भाव ही ग्राह्य हैं। शास्त्रों में षट् लेश्या के रूप में परिणामों का स्वरूप समझाया गया है।

जिनवाणी में भी 'परिणाम' शब्द का प्रयोग बहुधा उक्त अर्थ में ही किया गया है। प्राचीन जैन कवियों द्वारा निम्न पंक्तियों में किये गये प्रयोगों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

**''जीवनि के परिणामनि की अति विचित्रता देखो ज्ञानी''**
अथवा
**''निज परिणानि की संभाल में तातें गाफिल मत हो प्रानी''**

---

1. नाटक समयसार : कर्ता कर्म द्वार छन्द-7
2. 'परिणाम निकलता है लेकिन मानो पावक में घी डाला' – युगलजीकृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन

कहीं-कहीं 'परिणाम' के लिए परिणति शब्द का प्रयोग भी मिलता है। जैसे :-"**परिणति सब जीवनि की तीन भाँति वरणी**"

राग-द्वेष, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नंपुसकवेद आदि चारित्र गुण की पर्यायें तो जीव के परिणाम हैं ही, अतीन्द्रियज्ञान, आनन्द, वीतरागता आदि निर्मलपर्यायें तथा ज्ञान का क्षयोपशम भी 'परिणाम' शब्द के वाच्य समझना चाहिए।

यहाँ 'मोह' शब्द का प्रयोग जानबूझकर नहीं किया गया है, क्योंकि दर्शनमोह की विस्तृत व्याख्या 'अभिप्राय' के प्रकरण में अलग से की जाएगी, चारित्रमोह की चर्चा तो उसके भेदों के रूप में इसी प्रकरण में आ चुकी है।

**(3) अभिप्राय :-** 'अभिप्राय' शब्द से आशय मान्यता या श्रद्धान से है। क्रिया और परिणाम के पश्चात् 'अभिप्राय' शब्द रखा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि 'अभिप्राय' बाह्य क्रियाओं से भिन्न तो है ही, परिणामों से भी भिन्न कोई अलग वृत्ति है। पण्डित टोडरमलजी ने इसके लिए अभिप्राय शब्द के साथ-साथ 'प्रतीति' और 'अभिनिवेश' शब्द का प्रयोग भी किया है। कहीं-कहीं 'विश्वास' और 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

लोक में किसी कार्य को करने के उद्देश्य या उसके प्रयोजन को भी अभिप्राय कहते हैं। किसी विषय में होने वाले मन्तव्य को भी अभिप्राय कहा जाता है। यह मन्तव्य भी मान्यता का एक रूप है।

अगृहीत मिथ्यात्व तथा गृहीत मिथ्यात्व 'अभिप्राय' अर्थात् श्रद्धा गुण की विपरीत पर्यायें हैं। अभिप्राय की विपरीतता के कारण ही ज्ञान और चारित्र में विपरीतता होती है। अभिप्राय का अर्थ मिथ्यात्व ही हो- ऐसा नही है। यह शब्द श्रद्धा गुण की सामान्य परिणति का वाचक है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, ये दोनों अभिप्राय के ही विशेष रूप हैं। मिथ्यादर्शन अर्थात्

मिथ्या अभिप्राय तथा सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक् अभिप्राय समझना चाहिए।

'मिथ्या' और 'सम्यक्' अभिप्रायवाले जीवों को क्रमशः मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ 'दृष्टि' शब्द भी 'अभिप्राय' के लिए प्रयुक्त होता है। मिथ्यादृष्टि अर्थात् विपरीत है 'दृष्टि' जिसकी, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अर्थात् यथार्थ है दृष्टि जिसकी। इसमें ज्ञान की विपरीतता या यथार्थता भी शामिल है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरूदेवश्री कानजीस्वामी तो अपने प्रवचन में सम्यग्दर्शन के लिए बहुधा 'दृष्टि' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। उनका यह प्रयोग इतना अधिक प्रचलित हुआ कि मुमुक्षु समाज भी परस्पर चर्चा, प्रवचन, गोष्ठी आदि में सम्यग्दर्शन के लिए 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग करने लगा। 'दृष्टि का विषय' यह प्रकरण आज मुमुक्षु समाज का सर्वाधिक चर्चित और प्रिय विषय है। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने 'दृष्टि का विषय' पुस्तक लिखकर सम्यग्दर्शन का विषय ही स्पष्ट किया है। यह कथन 'दृष्टि प्रधान' है तथा यह कथन 'ज्ञान प्रधान' है– ऐसी चर्चा भी मुमुक्षुओं में बहुत चलती है।

'दृष्टि' और 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग अपेक्षा के अर्थ में भी किया जाता है। ''द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्यायदृष्टि से वस्तु अनित्य है'' इस कथन में द्रव्यदृष्टि अर्थात् 'द्रव्य की अपेक्षा' तथा पर्यायदृष्टि अर्थात् 'पर्याय की अपेक्षा' समझना चाहिए।

यह कथन अमुक नय की दृष्टि या अपेक्षा से है, तथा यह कथन प्रमाणदृष्टि अर्थात् प्रमाण की अपेक्षा से है – ऐसे प्रयोग प्रवचनों में, चर्चाओं में तथा जिनागम में भी बहुत मिलते हैं। नयचक्रकार आचार्य माइल्ल धवल लिखते हैं :-

**''जे णयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थू सहाव उवलद्धि''**

इस गाथा में नय अर्थात् विवक्षा या अपेक्षा के लिए नयदृष्टि शब्द का

प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार प्रमेयकमलमार्तण्ड में नय की परिभाषा बताते हुए उसे 'ज्ञाता का अभिप्राय' कहा गया है। उनका मूल कथन निम्नानुसार है :-

**'अनिराकृत प्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः'**

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि नय 'अभिप्राय' शब्द का पर्यायवाची भी है। नय श्रुतज्ञानात्मक है, अतः 'अभिप्राय' शब्द भी नयात्मक श्रुतज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब नयों अथवा अपेक्षा के सन्दर्भ में 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग किया जाए तो अभिप्राय को श्रुतज्ञान की नयात्मक पर्याय समझना चाहिए और जब क्रिया और परिणाम के साथ 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग किया जाए तो उसे श्रद्धा गुण की पर्याय समझना चाहिए। इसमें मिथ्याज्ञान भी शामिल है।

## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का क्रम

मुक्तिमार्ग प्रगट करने के लिए सर्वप्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करके अभिप्राय की भूल मिटाकर यथार्थ अभिप्राय प्रगट किया जाता है। सम्यक् अभिप्राय होने पर परिणामों में वीतरागभाव की वृद्धि होने लगती है और शेष रहे हुए शुभ राग के निमित्त से यथायोग्य धार्मिक क्रियायें भी होती हैं। अतः यथार्थता की अपेक्षा अभिप्राय, परिणाम और क्रिया– ऐसा क्रम होना चाहिए। परन्तु स्थूलता से सूक्ष्मता के क्रम की अपेक्षा क्रिया, परिणाम और अभिप्राय– यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न :– 'अभिप्राय' शब्द के अपेक्षा, दृष्टिकोण, मान्यता, उद्देश्य, विश्वास आदि अनेक अर्थ होते हुए भी आप उसे 'मान्यता' के अर्थ में ही ग्रहण क्यों करते हैं ?

उत्तर :– उक्त अनेक अर्थ लिखकर हम उन्हें भी स्वीकार तो कर ही रहे हैं, परन्तु इस विवेचन का उद्‌देश्य ही विपरीत श्रद्धान अर्थात् मान्यता का स्पष्टीकरण करना है। इस विवेचन के मूल आधार मोक्षमार्ग प्रकाशक

ग्रन्थ में भी मान्यता के अर्थ में अभिप्राय शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ 'मान्यता' के अर्थ में ग्रहण करना ही अभीष्ट है।

प्रश्न :– क्रिया परिणाम और अभिप्राय में योग का क्या स्थान है ?

उत्तर :– मन-वचन-काय के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के कम्पन को योग कहते हैं। योग भी उत्पाद-व्ययरूप होने से क्रिया ही है। परन्तु यहाँ जिस सन्दर्भ में इनकी चर्चा की जा रही है उस दृष्टि से देखा जाए तो योग जीव के योगगुण का परिणमन होने से 'परिणाम' कहा जाएगा। मन के निमित्त से होने वाले जीव के भाव भी परिणाम हैं, तथा वचन और काय की क्रिया 'क्रिया' कही जाएगी। 'अभिप्राय' मन-वचन-काय की क्रिया से भिन्न है, क्योंकि यहाँ श्रद्धागुण के परिणमन को अभिप्राय कहा गया है।

## अभिप्राय की विपरीतता

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि इस जीव को मनुष्य भव की प्राप्ति अनन्त बार हुई है और ज्ञानी गुरु अथवा सर्वज्ञ भगवान की साक्षात् देशना का लाभ भी अनन्त बार प्राप्त हुआ है। गुरु के उपदेश से प्रेरित होकर इस जीव ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र को मुक्ति का कारण जानकर उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी अनेक बार किये हैं। परन्तु इसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वास्तविक (निश्चय) स्वरूप न जानकर उनके बाह्य (व्यवहार) स्वरूप को ही परमार्थ मानकर, उन्हीं की प्राप्ति का पुरुषार्थ किया है। रत्नत्रय के अन्तरंग स्वरूप को न जानने से ही इसके पुरुषार्थ की दिशा विपरीत रही, इसीलिये तथाकथित पुरुषार्थ करने पर भी इसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हुई।

प्रश्नः– पिछले अध्याय में आपने श्रीमद् राजचन्द्रजी की पंक्ति 'बिन सद्‌गुरु कोय न भेद लहे' उद्‌धृत की है, जबकि यहाँ कह रहे हैं कि इस जीव को ज्ञानी गुरु या सर्वज्ञ भगवान की देशना अनन्त बार प्राप्त हुई, फिर भी इसे सच्चा मोक्षमार्ग प्रगट नहीं हुआ। क्या इन दोनों कथनों में विरोधाभास नहीं है ?

उत्तरः– यह बात परम सत्य है कि ज्ञानी गुरु या सर्वज्ञ भगवान की देशना प्राप्त किए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; परन्तु यह भी नियम नहीं है कि उनकी देशना मिलने पर सम्यग्दर्शन हो ही जाएगा। यदि ऐसा नियम होता तो समवसरण में सभी जीव सम्यग्दृष्टि होते। अतः उक्त दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है।

जिनागम का पठन-पाठन करने पर भी यह जीव अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताओं के कारण अज्ञानी रह जाता है – इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों का वर्णन करते हुए निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों की विस्तृत चर्चा की है।

उक्त चारों प्रकार का मिथ्यात्व अभिप्राय में पाया जाता है, क्रिया और परिणाम में नहीं। क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का विशेष वर्णन व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में आया है। अतः इस विषय को गहराई से समझने के लिए उक्त चारों प्रकार के मिथ्यात्व की संक्षिप्त जानकारी होना आवश्यक है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उक्त चारों प्रकार के मिथ्यात्व में प्रथम तीन प्रकार के मिथ्यादृष्टियों की तो तत्त्व-निर्णय में ही भूल है। सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्व-निर्णय की प्रक्रिया में है। इसलिए उसके अभिप्राय में अगृहीत मिथ्यात्वरूप परिणमन होते हुए भी उसके तत्त्व-निर्णय में स्थूल भूल नहीं होती। अतः पण्डितजी ने उसका स्वरूप बताते हुए तत्व-निर्णय की प्रक्रिया का वर्णन किया है। यदि उसके तत्त्व-निर्णय में कोई स्थूल विपरीतता हो जाए तो वह निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी या उभयाभासी हो जाएगा और यदि वह यथार्थ तत्त्व-निर्णय कर ले तो अल्प-काल में सम्यग्दृष्टि हो जाएगा।

## उपर्युक्त तीनों मिथ्यादृष्टियों का संक्षिप्त स्वरूप

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी का स्वरूप संक्षेप में माल और पेकिंग के उदाहरण से समझा जा सकता है।

बाजार में जो भी वस्तु मिलती है वह किसी न किसी अन्य वस्तु के आवरण में लिपटी होती है। लौकिक भाषा में मूल वस्तु को 'माल' तथा उसके ऊपर के आवरण को 'पेकिंग' कहते हैं। वस्तु के सम्बन्ध में पेकिंग पर आवश्यक जानकारी भी लिखी होती है, अतः वह मूल वस्तु का परिचय भी देती है और उसे सुरक्षित भी रखती है।

माल जितना अधिक कीमती होता है, उसकी पेकिंग भी उसी अनुपात में अधिक कीमती होती है। शक्कर की खाली बोरी मात्र 10-15 रुपये की होती है, जबकि हीरे का हार जिस डिब्बे में रखा जाता है, वह डिब्बा ही 100-200 रुपये का होता है। मनुष्यों के द्वारा जो कृत्रिम उत्पादन किये जाते हैं, उनमें माल अलग बनता है तथा पेकिंग अलग बनती है और फिर उस पेकिंग में माल पेक किया जाता है। साबुन कहीं अलग बनती है तथा उस पर लपेटा जाने वाला कागज अलग बनता है। उस कागज पर माल का नाम और वजन आदि कहीं और लिखा जाता है, फिर उसे फैक्ट्री में ले जाकर उसमें साबुन पेक की जाती है। फिर उस कागज में लिपटी हुई साबुन को ही माल कहा जाता है और ऐसी दर्जनों साबुनों को लकड़ी या कागज आदि की पेटी में पुनः पेक किया जाता है।

प्रकृति में होने वाले उत्पादन पेकिंग सहित ही उत्पन्न होते हैं। गेहूं, चावल आदि अनाज, आम सन्तरे केले आदि फल, छिलके सहित ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार प्रायः प्रत्येक माल किसी न किसी पेकिंग सहित ही होता है, उसी प्रकार आत्मा भी अनादिकाल से द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म की पेकिंग सहित है। उपयोग लक्षण वाला चैतन्य स्वरूप आत्मा 'माल' है तथा यह शरीर, आठ कर्म, तैजस शरीर और मोह-राग द्वेषादि भाव इसकी पेकिंग हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी भगवान आत्मा का स्वरूप समझाने के लिए नारियल का उदाहरण दिया करते हैं। जिस प्रकार नारियल के बाल, उसकी नरेटी (काचली) तथा गोले के ऊपर का लाल छिलका – ये सब नारियल की पेकिंग है, माल नहीं। लाल छिलके के भीतर जो सफेद और मीठा गोला है वही माल है, वही असली नारियल है। उसीप्रकार यह औदारिक शरीर, आठ कर्म और मोह-राग द्वेषादि विकारी भाव आत्मा नही हैं। ये तो आत्मा की पेकिंग हैं। ज्ञान-दर्शनमयी चैतन्य स्वभावी त्रिकाली ज्ञायक भाव ही माल है, वही असली आत्मा है।

माल और पेकिंग साथ-साथ रहते हैं, इसलिए पेकिंग को भी माल कहा जाता है; परन्तु पेकिंग के साथ माल हो तो उस पेकिंग को माल कहा जाएगा। यदि माल न हो और मात्र पेकिंग हो तो उसे कचरा कहा जाता है। कागज के डिब्बे में मिठाई हो तो डिब्बे को मिठाई या मिठाई का डिब्बा कहा जाता है। मिठाई निकल जाने पर डिब्बे को कचरा समझकर फेंक दिया जाता है।

जिसप्रकार नारियल, मिठाई, साबुन आदि स्थूल पदार्थ तथा संसारी जीव पेकिंग सहित होते हैं; उसीप्रकार साधक दशा में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी पेकिंग सहित होते हैं। असली रत्नत्रय अर्थात् माल को शास्त्रों में निश्चय रत्नत्रय कहा जाता है और इनके साथ होने वाले शुभभाव और बाह्यक्रियारूप पेकिंग को निश्चय-व्यवहार का उपचार करके शास्त्रों में व्यवहार-रत्नत्रय कहा जाता है।

इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय धर्म की पेकिंग है और निश्चय-रत्नत्रय माल है। रत्नत्रय के तीनों अंगों की पेकिंग और माल का स्वरूप निम्नानुसार समझा जा सकता है :-

**सम्यग्दर्शन :-** सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा और जीव आदि सात तत्त्वों की विकल्पात्मक श्रद्धा पेकिंग है तथा परद्रव्यों से भिन्न आत्मा की रुचि माल है।

**सम्यग्ज्ञान :-** जिनागम का पठन-पाठन आदि पेकिंग है और अपने आत्मा को जानना माल है।

**सम्यक्चारित्र :-** अणुव्रत महाव्रतादि बाह्य-क्रियायें और तदनुरूप शुभभाव पेकिंग हैं और आत्मस्वरूप में लीनता माल है।

जिसप्रकार माल सहित पेकिंग को भी माल कहते हैं, उसीप्रकार निश्चय रत्नत्रय सहित व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभभाव एवं क्रिया (पेकिंग) को भी रत्नत्रय कहने का व्यवहार है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

प्रश्न :- क्या भगवान आत्मा को माल और शुद्ध पर्यायों को पेकिंग कहा जा सकता है ?

उत्तर :- उदाहरण को सन्दर्भ सहित तथा एकदेश ग्रहण करना चाहिए। यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण है और वीतरागभाव ही वास्तविक मोक्षमार्ग है, अतः उसे 'माल' अर्थात् मूल वस्तु समझना चाहिए। जब भगवान आत्मा का वर्णन करना हो तब उसे माल तथा पर्यायों को पेकिंग कहा जाता है।

इस प्रकार मुक्ति का मार्ग पेकिंग सहित प्रारम्भ होता है। उसकी पूर्णता होने पर पेकिंग छूट जाती है और माल अर्थात् मुक्ति का मार्ग, मार्ग के फल अर्थात् मुक्ति में परिवर्तित हो जाता है।

सिद्धजीव, पुद्गल परमाणु तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य बिना पेकिंग के रहते हैं। शुद्ध पुद्गल परमाणु को माल और कुछ पुद्गल-स्कन्धों को पेकिंग-सामग्री कहा जा सकता है।

यह पेकिंग और माल सम्बन्धी व्यवस्था जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समाई हुई है। हमारे मनोभावों और उन्हें व्यक्त करने वाले बाह्याचरण में भी यही व्यवस्था लागू होती है। लोक में हर व्यक्ति इस व्यवस्था को जानता है और इसलिए पेकिंग को पेकिंग तथा माल को माल समझकर यथायोग्य आचरण करता है।

**माल और पेकिंग सम्बन्धी भूल :-** लोकव्यवहार में अत्यन्त चतुर

होने पर भी अज्ञानी जीव आत्मा के स्वरूप तथा रत्नत्रय धर्म के स्वरूप के बारे में इस व्यवस्था को नहीं समझता, इसलिए वह मुख्यतया तीन प्रकार की भूलें कर रहा है। इन्हीं भूलों की विस्तृत चर्चा पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार में निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास के रूप में की है। इन भूलों को पेकिंग और माल की भाषा में निम्नानुसार समझा जा सकता है।

(1) **निश्चयाभास :-** पेकिंग की आवश्यकता बिल्कुल न समझकर इसे व्यर्थ जानकर उसका सर्वथा निषेध करना निश्चयाभास है, अर्थात् आत्मा को सर्वथा रागादि रहित मानना और व्रत शील संयम आदि को सर्वथा हेय जानकर उनका निषेध करना निश्चयाभास है।

(2) **व्यवहाराभास :-** माल का स्वरूप न समझकर, उसे पेकिंग से भिन्न न जानकर, पेकिंग को ही माल समझना व्यवहाराभास है, अर्थात् आत्मा को मनुष्य, देव आदिरूप ही मानना और व्रत शील संयम आदि को ही मोक्षमार्ग मानना व्यवहाराभास है।

(3) **उभयाभास :-** पेकिंग और माल दोनों में अंतर न समझकर दोनों को एक समान मानना उभयाभास है, अर्थात् आत्मा के द्रव्य और पर्याय दोनों रूपों को उपादेय मानना और वीतरागभाव तथा व्रत शील संयम आदि शुभभाव, दोनों को मोक्षमार्ग मानना उभयाभास है।

(4) **माल और पेकिंग के सन्दर्भ में ज्ञानी की मान्यता :-** ज्ञानी 'माल' को 'माल' और पेकिंग को 'पेकिंग' समझते हैं। वे पेकिंग का सर्वथा निषेध करके निश्चयाभासी नहीं होते, और न उसी को माल मानकर व्यवहाराभासी होते हैं। उक्त दोनों को एक समान मानकर उभयाभासी भी नहीं होते। वे पेकिंग के माध्यम से माल की सही पहचान करके पेकिंग को गौण करके माल का उपभोग करते हैं।

(5) **माल और पेकिंग के सन्बन्ध में व्यवहारनय के कथन:-** व्यवहारनय से पैकिंग को ही माल कहा जाता है या इन दोनों को एक कहा

जाता है। जैसे – 'मिठाई का डब्बा' या 'घी का घड़ा' आदि। ज्ञानी निश्चय के ज्ञाता होते हैं इसलिए उनके द्वारा किए गए उक्त कथन व्यवहारनय के कहे जाएँगे, परन्तु अज्ञानी पेकिंग को ही माल समझता है इसलिए उसके द्वारा किए गए उक्त कथन व्यवहाराभास हैं, व्यवहारनय नहीं। सच्चे नय ज्ञानी को ही होते हैं। अज्ञानी को नयाभास होता है।

यह जीव बाह्यक्रिया और शुभभाव रूप पेकिंग को ही धर्म समझता है। इसे वीतरागभावरूप माल की पहचान ही नहीं है। इस भूल का उल्लेख करते हुये 'धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी' प्रकरण के प्रारम्भ में पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में पृष्ठ 220 पर लिखते हैं :-

**''तथा कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चयधर्म को नहीं जानते, इसलिए अभूतार्थरूप धर्म को साधते हैं। वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।''**

उक्त कथन से स्पष्ट है कि यह जीव रत्नत्रयधर्म के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु इसका प्रयत्न पेकिंग के लिए होता है माल के लिए नहीं। यह पेकिंग में मुग्ध है, परन्तु माल से अपरिचित है। इसलिए इसके अभिप्राय में व्यवहाराभास नामक मिथ्यात्वरूप महापाप होता है। इसे न असली माल मिलता है और न सच्ची पेकिंग। उक्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टियों की मान्यता की विस्तृत चर्चा करते हुए सातवें अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों में होने वाली भूलों का विस्तृत विवेचन किया गया है। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में इन भूलों को प्रस्तुत करते हुए निम्न शीर्षक बनाये गये हैं :-

अ - सम्यग्दर्शन का अन्यथा स्वरूप पृष्ठ 221 से 234

ब - सम्यग्ज्ञान का अन्यथा स्वरूप पृष्ठ 235 से 237 तक

स - सम्यग्चारित्र का अन्यथा स्वरूप पृष्ठ 238 से 248 तक

उक्त शीर्षकों की भाषा से ऐसा भ्रम भी हो सकता है कि यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विपरीतताओं का वर्णन किया गया है। परन्तु यदि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र सम्यक् हैं तो उनमें अन्यथापना कैसा ? और यदि उनमें अन्यथापना है तो वे सम्यक् कैसे ? परन्तु ऐसा भ्रम उन्हीं लोगों को हो सकता है जो भाषा की प्रकृति अर्थात् कथन शैली से अपरिचित हैं। जो लोग भाषा की प्रकृति से परिचित हैं, वे सहज ही जान सकते हैं कि यह तो भाषा का संक्षिप्तरूप है। उसका पूरा अर्थ यही होगा कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए किये गये प्रयत्नों का अन्यथा स्वरूप। लोक में भी भाषा का संक्षिप्तरूप कुछ और होता है तथा उसका पूरा भाव कुछ और होता है। चाचाजी के लिए बनाई गई चाय को 'चाचाजी की चाय' कहने वाले तथा सिर का दर्द मिटाने की दवा को 'सिर दर्द की दवा' कहने वाले हर घर में मिल जायेंगे। ऐसी संक्षिप्त भाषा बोलने और सुनने वाले लोग उसका पूरा भाव भी समझते हैं, इसलिए ऐसे संक्षिप्त कथनों से किसी को कोई आपत्ति या भ्रम नहीं होता। इसी प्रकार यदि हम जिनवाणी के कथनों का प्रसंग और प्रयोजन के अनुकूल पूरा भाव समझ लें तो कोई आपत्ति या भ्रम नहीं रहेगा तथा यथार्थ तत्त्व-निर्णय करना अति सुगम हो जाएगा।

अतः जिनागम का मर्म समझने के लिए उक्त सातवें अधिकार का गहराई से अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

---

*प्रश्न –*

1. *क्रिया, परिणाम और अभिप्राय शब्दों का प्रासंगिक आशय स्पष्ट कीजिये ?*
2. *निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास में होने वाली भूलों को माल और पेकिंग के उदाहरण में घटित कीजिये ?*
3. *ज्ञानी की मान्यता को 'माल' और पेकिंग की भाषा में समझाइये?*
4. *माल और पेकिंग के उदाहरण को आत्मा और मोक्षमार्ग पर घटित कीजिये ?*

***

# अध्याय

## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का जीवन में स्थान

हमारे जीवन में इन तीनों बातों का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में इन तीनों में ही समग्र जीवन व्याप्त है। इनके अतिरिक्त जीवन में और है ही क्या? जिस प्रकार एक रंग मञ्च अर्थात् नाटक की स्टेज में अनेक पर्दे होते हैं, बाहर कोई और दृश्य दिखाया जाता है तथा पर्दे के अन्दर किसी दूसरे दृश्य की तैयारी चलती है; उसी प्रकार हमारा जीवन भी नाटक की स्टेज जैसा है, जिसमें ये क्रिया, परिणाम और अभिप्रायरूपी तीन दृश्य बनते-मिटते रहते हैं। यहाँ इन दृश्यों को ढाँकने वाले पर्दों को भी इन्हीं नामों से सम्बोधित करना उचित है, अर्थात् क्रियारूपी पर्दे पर क्रिया का दृश्य चलता रहता है तथा परिणाम और अभिप्राय के पर्दे पर परिणाम और अभिप्राय के दृश्य रहते हैं। यहाँ इन तीनों पर्दों का विशेष स्पष्टीकरण किया जा रहा है :-

### (1) क्रियारूपी पर्दा :-

हमारे जीवन का क्रियावाला पर्दा कुछ खुला रहता है और कुछ बन्द रहता है। जिन क्रियाओं से लोक में निन्दा न हो, ऐसी खाने-पीने, धन्धे-व्यापार आदि क्रियाओं को सब लोग खुलकर करते हैं। ये तो सभी के जीवन में होने वाली सामान्य क्रियायें हैं। यद्यपि विषयभोग आदि कुछ क्रियायें व्यक्तिगतरूप से सभी के द्वारा की जाती हैं, परन्तु लज्जास्पद होने से ये क्रियायें एकान्त में की जाती है; सार्वजनिकरूप में नहीं।

जो क्रियायें लोकनिन्द्य होती हैं, जिन्हें अपराध माना जाता है और जिन्हें करने पर अपयश और दण्ड का पात्र होना पड़ता है– ऐसी सप्त

व्यसनादि क्रियायें करने वाले इन्हें छिपाकर ही करते हैं, तथा ये क्रियायें किसी और को मालूम न पड़ें, इसके लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं, अर्थात् ऐसी क्रियाओं को ढाँकने वाला पर्दा बन्द ही रखा जाता है।

यह समाज का दुर्भाग्य ही है कि पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभाव से सर्वथा त्याज्य क्रियायें भी आज सार्वजनिकरूप से खुलकर की जाने लगी हैं। खुलेपन के नाम पर होने वाली अमर्यादित क्रियायें तथा टी.वी. पर दिखाए जाने वाले विज्ञापन और फिल्में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। फिर भी ये सामाजिक स्तर पर स्वीकार्य नहीं हो पातीं। समाज में इनकी निन्दा ही होती है।

कुछ क्रियायें ऐसी भी होती हैं जिन्हें करने से लोक में यश मिलता है, पुरस्कार एवं अभिनन्दन पत्र आदि भी मिलते हैं। दया, दान, शील, भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास आदि धार्मिक क्रियायें तथा सार्वजनिक हित की अनेक क्रियायें ऐसी ही होती हैं। इन कार्यों को करने वाले,इन्हें ढाँकने वाला पर्दा खुला रखते हैं, इनका अधिक से अधिक प्रचार करते हैं। स्वयं प्रचार करने में संकोच हो तो दूसरों से कहकर कराते हैं।

इस प्रकार सभी उक्त क्रियाओं को यदि पुण्यक्रिया और पापक्रियाओं में बाँटा जाए, तो यही कहा जाएगा कि हम क्रिया वाला पर्दा आधा खुला रखना चाहते हैं और आधा बन्द रखना चाहते हैं।

**(2) परिणामरूपी पर्दा :-**

जिस प्रकार नाटक में पहला पर्दा खोलकर कोई दृश्य दिखाया जा रहा हो और उसके पीछे दूसरे दृश्य की तैयारी की जा रही हो तो वह तैयारी जनता को नहीं दिखती, परन्तु कार्यकर्ता तो उसे देखते ही हैं। उसी प्रकार क्रिया के पर्दे के पीछे जीवन में परिणामरूपी परदा होता है। यद्यपि पहले पर्दे पर होने से क्रिया सबको दिखती है, तथापि परिणामों का पर्दा दूसरों को

दिखाई नहीं देता। वह स्वयं को अवश्य दिखता है, क्योंकि वह अपने भीतर होता है और हम उसका वेदन करते हैं, उसे भोगते हैं।

**क्रिया और परिणाम में परस्पर सम्बन्ध :-** परिणामों और क्रियाओं में प्रायः निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। अतः जैसे हमारे परिणाम (भाव) होते हैं, प्रायः वैसी ही बाह्यक्रिया भी होती है। खाना-पीना, उठना-बैठना, बोलना, धन्धे-व्यापार आदि लौकिक क्रियायें तथा भक्ति, पूजा, दया, दान आदि धार्मिक क्रियायें करते समय प्रायः हमारे परिणाम भी वैसे ही होते हैं।

उपर्युक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण क्रिया देखकर परिणामों का अनुमान सहज ही हो जाता है। अतः क्रिया के माध्यम से परिणाम जाने जा सकते हैं। भोजन या पूजन करते हुए व्यक्ति को देखकर यही कहा जाएगा कि इस समय इस व्यक्ति के भाव भोजन करने के हैं अथवा पूजन करने के हैं।

**क्रिया और परिणाम की स्वतन्त्रता :-** उपर्युक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी बहुत से परिणाम और बहुत सी क्रियायें ऐसी भी होती हैं, जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीवन में ऐसे प्रसंग भी बहुत बनते हैं कि जैसे भाव होते हैं वैसी क्रिया नहीं हो पाती और जैसी क्रिया होती है वैसे भाव नहीं होते।

प्रश्न :- क्रिया कुछ और हो तथा परिणम कुछ और हों - ऐसा कब होता है ?

उत्तर :- जैसे कार का कुशल ड्रायवर कार चलाते-चलाते कैसेट भी सुनता रहता है और हमसे बातें भी करता रहता है। उसके हाथ-पैर कार चलाने की क्रिया करते रहते हैं और यह क्रिया करते हुए भी उसके परिणाम या उपयोग (ध्यान) कैसेट सुनने में या हमसे बातें करने में भी लग जाता है। परन्तु जब वह कार चलाना सीख रहा था तब वह पूरा ध्यान (ज्ञान की

एकाग्रता) उसी तरफ लगाता था कि "अब क्लच दबाना है, अब गेयर बदलना है– इत्यादि, परन्तु पूरी तरह सीख लेने पर ये क्रियायें सहज होती रहती हैं और उसके परिणाम कैसेट सुनने में या हमसे बातें करने में लगे रहते हैं।

इसी प्रकार एक कुशल टाइपिस्ट भी हमसे बातें करता रहता है, लेख को पढ़ता रहता है तथा उसकी उंगलियाँ सही-सही टाइप भी करती हैं।

उपर्युक्त ड्रायवर और टाइपिस्ट के समान हमारे जीवन में भी ऐसे प्रसंग बहुत बनते हैं। भोजन करने या टी.वी. देखने की क्रिया चलती रहती है और उसी समय हम किसी से बात करते रहते हैं या कुछ और सोचते रहते हैं।

खाने-पीने आदि लौकिक क्रियाओं की तो बात क्या करना ? हमारी धार्मिक क्रियाओं में तो प्रायः ऐसा ही होता है। पूजन प्रारम्भ करते समय कुछ क्षण तो पूजन के छन्द भावपूर्वक पढ़े जाते हैं, किन्तु शीघ्र ही हमारा मन (परिणाम) धन्धे व्यापार आदि लौकिक विषयों में चला जाता है। हम दिन भर के कार्यक्रम की योजना उसी समय बना लेते हैं कि आज अमुक को ड्राफ्ट भेजना है, उसको माल भेजना है, उस मीटिंग में जाना है.... इत्यादि। हम न केवल योजना बनाते हैं, अपितु उस विषय में इतने तन्मय हो जाते हैं कि विकल्पों में ही सारे कार्य सम्पन्न कर लेते हैं और मुख से पूजन के छन्द बोलते रहते हैं और हाथों से पूजन-सामग्री चढ़ती रहती है। जब पूजा पूरी हो जाती है तब मानों हमें होश आता है कि 'अरे पूजा तो पूरी हो गई'।

अँग्रेजी में एक कहावत है – 'Present body absent mind' अर्थात् 'शरीर उपस्थित और मन अनुपस्थित' यह उक्ति भी क्रिया और परिणाम की भिन्न दिशाओं वाली स्थिति को सिद्ध करती है। उनमें अत्यन्त अभाव होने से उनका स्वरूप तो परस्पर भिन्न ही रहता है, भले ही वे एक

जैसे हों, परन्तु यहाँ तो क्रिया कुछ और परिणाम कुछ और वाली स्थिति स्पष्ट करना है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के जीवन की वह घटना सुविख्यात है, जब उन्हें छह माह तक इस बात का पता ही नहीं चला कि भोजन में नमक नही है; क्योंकि भोजन की क्रिया के समय भी उनके परिणाम 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' सम्बन्धी विचारों में मग्न रहते थे।

वास्तव में क्रिया तो शरीराश्रित है अर्थात् पुद्गल द्रव्य का परिणमन है और परिणाम जीव की पर्याय है। अतः दोनों भिन्न द्रव्यों की पर्यायें होने से उन दोनों में अत्यन्त अभाव है। इसलिए क्रिया और परिणाम एक जैसे हों या न हों, वे परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र होते हैं। जब वे एक जैसे होते हैं तब उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार करके उन्हें एक-दूसरे का कारण-कार्य कहा जाता है।

प्रश्नः- परिणाम और क्रिया में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी परिणाम कुछ और क्रिया कुछ– ऐसा कैसे हो जाता है ?

उत्तर :- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप नहीं है। जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है उसे उपादान कहते हैं और जो कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल हो, उस बाह्य-पदार्थ को निमित्त कहते हैं, तथा उपादान में होने वाले कार्य को उपादेय या नैमित्तिक कहते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो परिणाम और क्रिया में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। दोनों अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से परिणमित होते हैं, अतः क्रिया कुछ हो और परिणाम कुछ और ही प्रकार के हों- यह स्थिति सहज सम्भव है और इसमें दोनों की स्वतन्त्र योग्यता ही कारण है।

दूसरी बात यह भी है कि बाह्य क्रिया स्थूल होती है, अतः उसमें बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन नही दिखता, जबकि परिणाम तो क्रिया की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं और उनमें परिवर्तन भी बहुत तेजी से होता है; इसलिए

क्रिया वही की वही होती रहे और परिणाम उसे छोडकर अन्य विषय में लग जायें- ऐसा सहज सम्भव है। भोजन या पूजन की क्रिया जितनी देर चलती है उतनी देर में हजारों लाखों प्रकार के परिणाम हो सकते हैं।

क्रिया के समान ही हम अपने प्रशंसनीय शुभ परिणामों का तो प्रचार करना चाहते हैं और लोकनिंद्य परिणामों को छुपाकर रखना चाहते हैं; यहाँ तक कि हम उनके अनुसार क्रिया करने से भी बचना चाहते हैं और यही हमारे हित में है। उपदेश में भी शुभ परिणाम की प्रेरणा दी जाती है, अशुभ क्रिया या अशुभ परिणामों को छोड़ने की प्ररेणा दी जाती है। यद्यपि उत्तम-आर्जवधर्म के प्रकरण में परिणामों में सरलता रखने की प्रेरणा देते हुए कहा जाता है कि ''मन में होय सो वचन उचरिये,वचन होय सो तनसों करिये'', परन्तु ऐसी स्थिति तो वीतरागी मुनिराजों की होती है, विषय-कषाय में रचे-पचे गृहस्थों के लिए तो यही उचित है कि मन में होय सो मन में धरिये,वचन होय तनसों नहिं करिये।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि परिणाम, जीव के भाव हैं, जो क्रिया से निरपेक्ष रहकर अपनी तत्समय की योग्यतानुसार अपने स्वकाल में स्वयं उत्पन्न होते हैं।

### (3) अभिप्रायरूपी पर्दा :-

क्रिया और परिणाम के स्वरूप की विस्तृत चर्चा के बाद अभिप्राय की चर्चा अभीष्ट है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अभिप्राय से आशय श्रद्धा गुण की पर्याय है जिसे प्रतीति या अभिनिवेश भी कहते हैं। यहाँ तो क्रिया और परिणाम के सन्दर्भ में अभिप्राय का स्वरूप विशेष स्पष्ट करना आवश्यक है।

प्रश्न :- मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 91 पर जाने हुए पदार्थ की श्रद्धा को ज्ञान का कार्य कहा है, तो क्या श्रद्धा, ज्ञान गुण की पर्याय है ?

उत्तर :- श्रद्धा और ज्ञान में मिथ्यापना और सम्यक्पना एक साथ

होने की अपेक्षा से अनेक स्थानों पर इन दोनों का अभेद कथन भी किया जाता है।

समयसार में आत्मा को ज्ञान मात्र भी कहा गया है। इस अपेक्षा से भी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र – ये सब ज्ञान अर्थात् आत्मा के ही परिणाम कहे जाते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में श्रद्धा-ज्ञान की निर्मलता, बारहवें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता तथा तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य की पूर्णता कही गई है। इससे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि गुणों में कथञ्चित् भिन्नता सहज सिद्ध होती है।

अभिप्राय, प्रतीति, मान्यता, श्रद्धान, रुचि आदि शब्द पर्यायवाची हैं। हमारे जीवन में अभिप्राय की क्या भूमिका है उसका परिणमन किस रूप में होता है ? इत्यादि अनेक बिन्दु गम्भीरता से विचारणीय हैं, क्योंकि क्रिया और परिणाम तो सरलता से समझ में आ जाते हैं, परन्तु 'अभिप्राय' शब्द का भाव स्पष्ट नहीं होता। निम्न उदाहरण से अभिप्राय शब्द का स्वरूप सरलता से समझा जा सकता है।

किसी नाटक में लगभग 12 वर्ष का एक लड़का, लड़की का अभिनय करता है। इस अभिनय की सफलता के लिए वह लड़की जैसी वेशभूषा तो पहनता ही है। 'मैं जा रहा हूँ' – ऐसा न कहकर 'मैं जा रही हूँ'– ऐसा बोलता है। इस किशोरावस्था में आवाज तो मादा अर्थात् लड़कियों जैसी ही है। अभिनय की सफलता के लिए वह इतना तन्मय होकर लड़कियों जैसे हाव-भाव करता है कि दर्शक उसे लड़की ही समझ लेते हैं। यदि दुर्भाग्य से उस समय आयु-बन्ध का काल हो तो उन परिणामों से उसे स्त्री-पर्याय प्राप्त होने योग्य कर्म भी बँध सकता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उसके भाव स्त्रीपात्र का अभिनय करने के हैं, स्त्री जैसे होने के नहीं; परन्तु भावपूर्ण प्रस्तुति करने के लिए वैसे

अभिनय में तन्मयता भी हो जाती है – इस अपेक्षा से यहाँ उसके स्त्री जैसे परिणाम कहे गए हैं।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि क्रिया और परिणामों के स्तर पर वह बालक स्त्रीत्व का अनुभव करता हुआ भी अपने को स्त्री मानता है या पुरुष ? वह अपने को पुरुष ही मानता है अन्यथा उसे उसके रमेश-सुरेश आदि नामों से सम्बोधित करने पर वह प्रत्युत्तर क्यों देता है ?

अब यह विचारणीय है कि "मैं पुरुष ही हूँ स्त्री नहीं" यह मान्यता या अनुभूति कहाँ चल रही है ? उसकी क्रियायें तो स्त्री जैसी हैं, भाव भी स्त्री जैसे हैं। अतः यही समाधान है कि उसकी पुरुष होने की अनुभूति या मान्यता, अभिप्राय अर्थात् श्रद्धा के परिणमन में ही चल रही है। यही वह अभिप्राय है, जिसकी दिशा क्रिया और परिणामों से भिन्न है।

यद्यपि अभिप्राय भी श्रद्धा गुण की पर्याय होने से उसे परिणाम भी कहा जाता है, परन्तु यहाँ ज्ञान और चारित्र गुण की परिणति से भिन्नता बताने के लिए उस परिणाम को 'अभिप्राय'शब्द से सम्बोधित किया गया है।

प्रश्न :- वह बालक अभिप्राय में अपने को पुरुष मानने के साथ-साथ ज्ञान में अपने को पुरुष जानता है ; तब यहाँ मात्र श्रद्धा की बात क्यों कही जा रही है ?

उत्तर :- यह बात ठीक है कि जानना और मानना एक साथ होता है, परन्तु जानने में अन्य विषय भी ज्ञेय बनते हैं ; जबकि श्रद्धान में किसी एक विषय में ही अहं होता है। यहाँ प्रकरण भी अभिप्राय का स्वरूप स्पष्ट करने का है, अतः श्रद्धा की मुख्यता से कथन किया गया है।

प्रश्न :- यदि श्रद्धा का विषय एक ही है तो "तत्त्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्" में सातों तत्त्वों की प्रतीति कैसे कही जाती है ?

उत्तर :- यह कथन ज्ञान की मुख्यता से किया जाता है। दृष्टिप्रधान कथन में श्रद्धा का विषय एक-अखण्ड-अभेद-सामान्य-नित्य-त्रिकाली-

ज्ञायकभाव ही है। ज्ञान की प्रधानता से श्रद्धा के विषय में भेद करके उसे अनन्त गुणों का पिण्ड, उपयोग लक्षणरूप....इत्यादि भी कहा जाता है। यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है, संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है।

उपर्युक्त बालक के समान हम सबकी भी यही स्थिति है। हम सबका डॉक्टर, पण्डित, सेठ, कवि, लेखक, पुरुष, स्त्री आदि अवस्थाओं में किसी न किसी रूप में अहं निरन्तर रहता है। अन्य कार्यों में निरन्तर तन्मय रहने पर भी हमारा अहं कायम रहता है, वह मिट नहीं जाता। पूजा करते समय या प्रवचन सुनते समय क्रिया और परिणामों में पूजन और वैसे ही भाव विद्यमान होने पर भी सेठजी अपने को सेठ तथा डॉक्टर अपने को डॉक्टर मानते हैं। पुरुष या महिलायें भी स्वयं को पुरुष या महिला समझकर ही अपने लिए सुनिश्चित अलग-अलग स्थानों पर बैठकर प्रवचन सुनते हैं। श्रोताओं की क्या बात कहें ? भेदविज्ञान और सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसकी विधि का भाव-विभोर होकर वर्णन करने वाले अधिकाँश प्रवक्ता भी उस समय क्या अपने को पुरुष, खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि रूप नहीं मानते ? यह सब अभिप्राय का ही कमाल है। अभिप्राय अपनी अनुभूति में इतना मजबूत रहता है कि उस पर बाह्य क्रिया और परिणामों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह उनसे अप्रभावित रहकर अपनी ही धारा में बहता रहता है। अभिप्राय की इस विशेषता का विशेष स्पष्टीकरण आगे भी यथास्थान किया जाएगा।

प्रश्न :– परिणाम और अभिप्राय में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– इस प्रसंग में परिणाम शब्द का अर्थ, राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि चारित्रमोह के उदय से होने वाले विकार तथा क्षयोपशम ज्ञान अभीष्ट है। अभिप्राय शब्द से आशय श्रद्धा और ज्ञान की विपरीतता या यथार्थता अर्थात् रुचि, प्रतीति, अध्यवसाय आदि भावों से है। इनमें दर्शनमोह का उदय निमित्त है।

प्रश्न :– क्षयोपशम ज्ञान को परिणामों में शामिल क्यों किया गया है ?

उत्तर :– शास्त्रों के अनुसार यथार्थ धारणा होने पर भी अभिप्राय में विपरीतता बनी रहती है, अतः वह अभिप्राय से भिन्न होने से उसे परिणाम में शामिल किया गया है।

इस विपरीतता में दर्शनमोहनीय कर्म प्रकृति का उदय निमित्त होता है। ज्ञान की हीनाधिकता में ज्ञानावरणी कर्म की प्रकृति का क्षयोपशम निमित्त होता है।

प्रश्न :– किसी सरल उदाहरण से परिणाम और अभिप्राय में अन्तर स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर :– एक माँ अपने उद्दण्ड बालक को गलती करने पर सुधारने के उद्देश्य से उस पर क्रोध करती है और उसे पीटती है। यहाँ क्रिया और परिणामों में क्रोध होने पर भी अभिप्राय में अपनत्व और हितबुद्धि है। वही माँ जब पड़ोसिन के छोटे बच्चे को गोद मे लेकर प्यार से खिलाती है तब परिणाम और क्रिया में प्रेम होने पर भी अभिप्राय में उसके प्रति अपनत्व या ममत्व नहीं है। इससे परिणाम और अभिप्राय में स्पष्ट अन्तर समझा सकता है।

---

**प्रश्न –**

1. *हमारे जीवन में क्रिया रूपी पर्दे पर घटित होने वाली घटनाओं तथा प्रभाव का विश्लेषण कीजिये ?*
2. *क्रिया और परिणामों की स्वतन्त्रता सिद्ध करते हुए उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या कीजिये ?*
3. *'अभिप्राय' से आप क्या समझते हैं ? क्रिया और परिणामों के सन्दर्भ में अभिप्राय की व्याख्या उदाहरण सहित प्रस्तुत कीजिये ?*

***

# अध्याय

## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता

क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की परिभाषा एवं स्वरूप की चर्चा के बाद यह बात विशेष ज्ञातव्य है कि ये क्रमशः एक-दूसरे की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं।

यहाँ स्थूलता या सूक्ष्मता से आशय उनके आकार-प्रकार से नहीं, अपितु उनके प्रमेयत्व से है अर्थात् जो जितनी शीघ्रता व सरलता से पता चल जाए, वह स्थूल है और जिसे जानने में विशेष प्रयत्न करना पड़े, वह सूक्ष्म है।

**क्रिया की स्थूलता :-** उक्त परिभाषा के सन्दर्भ में देखा जाए तो क्रिया सर्वाधिक स्थूल है। अपनी क्रियाओं को हम स्वयं तो जानते ही हैं, दूसरे लोग भी जान लेते हैं। जगत में किसी व्यक्ति की प्रशंसा या निन्दा उसकी बाह्य- क्रियाओं के माध्यम से होती है। यही कारण है कि साधारण व्यक्ति धर्म करने के लिए सर्वप्रथम उन बाह्य-क्रियाओं को ही अपनाता है, जिनसे लोक में प्रशंसा मिलती है अथवा जिन्हें धर्म कहा जाता है।

क्रिया की गन्ध अर्थात् उसका प्रभाव बहुत तेजी से फैलता है। आज के सूचना-क्रान्ति के युग में तो हर घटना की जानकारी चन्द मिनटों में ही सारी दुनिया को हो जाती है। यदि प्रधानमन्त्री को जुखाम भी हो जाए, तो सारी दुनिया को मालूम पड़ जाता है। दुनिया के किसी भी कोने में घटित होने वाली हिंसा, लूटपाट, चोरी, बलात्कार आदि घटनाओं से अखबार भरे रहते हैं तथा टी.वी. पर 24 घन्टे आने वाले समाचारों में ये ही घटनायें गूँजती रहती हैं।

पूजन-विधान कराते समय यदि विधानचार्य दीप की जगह धूप का छन्द बोल दें, तो जनता तुरन्त टोक देती है। प्रवचन में यदि एक शब्द का भी अनुचित प्रयोग हो जाए तो तत्काल उसकी प्रतिक्रिया सामने आ जाती है।

न केवल बुरे कामों का बल्कि अच्छे कामों का प्रभाव भी जनसामान्य पर पड़ता है। पाँचों पापों के त्यागी मुनिराजों के जीवन से हमें भी तप, त्याग व संयम की प्रेरणा मिलती है। जगत उनके चरणों में नत-मस्तक रहता है। यदि कोई रिक्शेवाला किसी के भूले हुए पर्स को थाने में जमा करा दे या उसके मालिक तक पहुँचा दे तो अखबारों में 'ईमानदारी अभी शेष है' शीर्षक से उसकी प्रशंसा छपती है। इसी प्रकार यदि साम्प्रदायिक दंगों के समय एक सम्प्रदाय का व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्ति की रक्षा करे तो उसकी मानवीयता के गीत भी सूचना माध्यमों में गाए जाते हैं।

इसप्रकार बाह्य-क्रिया अत्यन्त स्थूल होने से क्रिया के स्तर पर होने वाली भूल भी सबको दिखती है। यदि यह कहा जाए कि जगत मात्र क्रियाओं को ही देखता है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यहाँ क्रिया की चर्चा करते समय शरीरादि पर-पदार्थों की क्रियाओं को जीव की कहा गया है; परन्तु यह कथन असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा ही समझना चाहिए। वास्तव में आत्मा इन क्रियाओं का कर्ता नहीं है। आत्मा के रागादि भावों के निमित्त से ये क्रियायें होती हैं। इसलिए आत्मा को व्यवहारनय से इनका कर्ता कहा जाता है।

**परिणामों की सूक्ष्मता-स्थूलता :-** क्रिया की अपेक्षा परिणाम बहुत सूक्ष्म होते हैं। वे दूसरों की पकड़ में सीधे तो आते ही नहीं, बल्कि क्रिया के माध्यम से ही जाने जाते हैं। क्रिया व्यक्त होती है और परिणाम अव्यक्त होते हैं। इसलिए परिणामों की जानकारी जगत को तभी होती है, जब वे क्रिया के माध्यम से व्यक्त हों अर्थात् उनके निमित्त से क्रिया भी वैसी हो, जैसे परिणाम हुए हैं।

यद्यपि हमारे परिणामों को जगत सीधे नहीं जान सकता, तथापि हम स्वयं तो उन्हें जानते ही हैं । उन्हें न केवल हम जानते हैं, परन्तु उनसे उत्पन्न सुख-दुःख भी भोगते हैं।

मान लीजिए, प्रवचन के समय माइक आदि की व्यवस्था भंग हो जाने से यदि प्रवचनकार को क्रोध आ जाए, परन्तु वह यह सोचकर उस क्रोध को व्यक्त न करे कि यदि मैं क्रोध व्यक्त करूँगा तो मेरी प्रतिष्ठा खराब होगी; तो कौन जानेगा कि उसे क्रोध आ गया है ? सब यही समझेंगे कि पण्डितजी बड़े शान्त परिणामी हैं। यद्यपि उनके परिणामों में क्रोध है, और वे आकुलता का वेदन भी कर रहे हैं तथापि उन्हें शान्त परिणामी समझा जा रहा है, क्योंकि उन्होंने क्रिया के माध्यम से क्रोध व्यक्त नहीं किया।

इसी प्रकार किसी दुकान का कोई विक्रेता या हवाई जहाज की परिचारिका मुस्कराके आपका स्वागत करते हुए, दुःखी भी हो सकती है। हो सकता है कि अपनी माँ की बीमारी के कारण उसने छुट्टी मांगी हो, परन्तु उसके अधिकारी ने उसे छुट्टी न दी हो; अतः वह माँ की चिन्ता में दुःखी हो, किन्तु मुस्कराते हुए आपका स्वागत करना उसकी ड्यूटी है; अतः उसे मुस्कराना तो पड़ेगा ही, क्योंकि उसे मुस्कराकर स्वागत करने का ही वेतन मिलता है। यद्यपि आप उसके दुःख को नहीं जान सकेंगे, परन्तु वह तो जान रही है और भोग भी रही है । इसीप्रकार आपसे हँस-हँस कर बातें करते हुए अपना माल दिखाने वाला विक्रेता, आपके द्वारा माल न खरीदे जाने पर भीतर ही भीतर खीझता रहता है, परन्तु वह अपनी खीझ व्यक्त नहीं कर सकता; अतः आप उसे शान्त स्वभावी ही समझेंगे ।

जिन परिणामों को हम दूसरों के सम्मुख प्रगट नहीं होने देना चाहते, हम उन्हें क्रिया में व्यक्त न होने देने का प्रयास करते हैं । यह बात अलग है कि हम उसमें सफल हो पाते हैं या नहीं ? यह तो हमारी अभिनय कुशलता या अकुशलता पर निर्भर है, यदि माया कषाय की तीव्रता होगी तो हम अपने परिणामों को छिपाने में सफल हो जायेंगे ।

इसप्रकार क्रिया का ज्ञान सबको होने पर भी परिणामों को अन्य लोग नहीं जान सकते, जब वे क्रिया के माध्यम से व्यक्त होते हैं, तभी अन्य लोग क्रिया के माध्यम से उनका ज्ञान कर पाते हैं।

**अभिप्राय की सूक्ष्मता :-** क्रिया और परिणामों से परिचित यह जगत अभिप्राय से बिलकुल अपरिचित ही है, क्योंकि अभिप्राय की धारा परिणामों के तल में बहती है । जगत के प्राणियों में मिथ्या मान्यताओं का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है, फिर भी उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता । यदि कदाचित् वह ख्याल में आ भी जाए तो वह अभिप्राय और परिणाम में भेद नहीं समझ पाता ।

जिसप्रकार कार पहियों द्वारा सड़क पर दौड़ती है, परन्तु स्टीयरिंग के द्वारा उसकी दिशा सुनिश्चित की जाती है; उसीप्रकार परिणाम अभिप्राय से भिन्न होने पर भी परिणामों की दिशा अभिप्राय द्वारा सुनिश्चित की जाती है । जब तक अभिप्राय में देहादि में अहंबुद्धि रहती है, तब तक परिणामों की धारा परपदार्थों की ओर ही बहती है, तथा जब अभिप्राय में अपने चैतन्य स्वभाव में अंहबुद्धि हो जाती है, तब परिणामों का प्रवाह भी स्वसन्मुख हो जाता है ।

अभिप्राय में परिवर्तन एक गुप्त क्रान्ति है। जिसप्रकार बीज में अंकुर फूटता है, परन्तु वह पृथ्वी के भीतर ही रहता है, इसलिए किसी को दिखता नहीं है। जब वह पौधा बनकर ऊपर आता है, तभी वह जगत को दिखता है; उसीप्रकार अभिप्राय बदल जाने पर तत्काल परिणामों और क्रिया में बहुत बड़ा परिर्वतन दिखाई नहीं पड़ता; कालान्तर में परिणामों में विशेष परिर्वतन होता है, तभी वह क्रिया के माध्यम से जगत को दिखाई पड़ सकता है ।

इसप्रकार अभिप्राय, परिणामों से भी अधिक सूक्ष्म वृत्ति है, जो जिनागम के आलोक में विशेष प्रयत्न पूर्वक निरीक्षण करने पर ही हमारे ख्याल में आ सकती है।

प्रश्न :- अभिप्राय को समझने के लिए हमें किसप्रकार का प्रयत्न करना चाहिए ?

उत्तर :- दैनिक जीवन में अपने जो भी परिणाम होते हैं, हम उनमें प्रश्न चिन्ह लगायें कि वे क्यों होते हैं ? जैसे हम पूजा क्यों करते हैं ? – इसप्रकार परिणामों के सामने 'क्यों' लगाकर उसका कारण खोजा जाए। फिर जो उत्तर आए उसमें भी 'क्यों' लगाया जाए। इसप्रकार दो-चार बार प्रश्नचिन्ह लगाकर विचार करने से जो अन्तिम उत्तर होगा वह हमारे अभिप्राय को बताएगा । उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रश्नोत्तर देखें :-

प्रश्न :- हम व्यापार क्यों करते हैं ?
उत्तर :- धन कमाने के लिए।
प्रश्न :- धन क्यों कमाते हैं ?
उत्तर :- भोग-सामग्री जुटाने के लिए।
प्रश्न :- भोग-सामग्री क्यों जुटाते हैं ?
उत्तर :- सुखी होने के लिए।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हम भोगों में सुख मानते हैं। यह मान्यता ही हमारा अभिप्राय है। यह अभिप्राय सही है या गलत ? – इसकी मीमाँसा एक अलग विषय है, जिसकी चर्चा शास्त्रों में अनेक स्थलों पर की गई है।

प्रश्न :- इसप्रकार 'क्यों' कब तक लगायेंगे ? यह तो अन्तहीन प्रक्रिया हो जाएगी ?

उत्तर :- 'क्यों' लगाते-लगाते जब प्रयोजनभूत सात तत्त्व के बारे में हमारी मान्यता स्पष्ट हो जाए, तो समझिये कि हमें अभिप्राय का पता चल गया। फिर उसके बाद 'क्यों' लगाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रक्रिया का विशेष स्पष्टीकरण आगे यथास्थान और भी किया जाएगा। यहाँ तो मात्र अभिप्राय की सूक्ष्मता बताने के लिए संक्षिप्त चर्चा की गई है।

प्रश्न :- अभिप्राय स्पष्ट होने के बाद 'क्यों' प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है या नही ?

उत्तर :- जब अभिप्राय को समझने का प्रयोजन हो तो और प्रश्न चिन्ह लगाने की क्या जरूरत है ? यदि उसके कारणों की तथा यथार्थता-अयथार्थता की मीमांसा करना हो तो 'क्यों' लगाकर उसका निर्णय किया जायेगा।

प्रश्न :– क्या हमारी वाणी या क्रिया के माध्यम से अभिप्राय भी व्यक्त होता है ?

उत्तर :– हाँ ! कभी-कभी ऐसा भी होता है। एक बार रामलीला में हनुमान के अभिनय करने वाले पात्र को अशोक वाटिका में आकाश मार्ग से प्रवेश करके सीताजी को रामचन्द्र जी की मुद्रिका देने का अभिनय करना था। एतदर्थ रस्सी से कूदने की व्यवस्था की गई थी। अभिनय करते समय उसके कूंदने के कुछ समय पहले रस्सी टूट गई और वह गिर गया। सीताजी का पात्र समझ नहीं पाया कि रस्सी टूट गई है, अतः उसने अपना संवाद बोलना प्रारम्भ किया "हे भ्राता ! आप कौन हैं ?..." परन्तु वह व्यक्ति गुस्से से बोला "भ्राता-व्राता कुछ नहीं ! पहले यह बता कि रस्सी किसने काटी ?"

यहाँ हम विचार करें कि वह व्यक्ति ऐसा क्यों बोला ? वह स्वयं को हनुमान नहीं, अपितु रमेश-सुरेश आदि व्यक्ति के रूप में मानता है। अतः उसकी वाणी में उसे उत्पन्न हुए क्रोध के साथ-साथ उसकी मान्यता भी झलक रही है। इसप्रकार अनेक प्रसंगों में हमारा अभिप्राय भी वाणी या क्रिया के माध्यम से व्यक्त हो जाता है।

---

**प्रश्न –**

1. *क्रिया और परिणाम की स्थूलता और सूक्ष्मता स्पष्ट कीजिये?*
2. *सिद्ध कीजिये कि अभिप्राय, परिणामों से भी अधिक सूक्ष्म है ?*
3. *हम अपने अभिप्राय को किस प्रकार समझ सकते हैं ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये ?*

***

# अध्याय

## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का जीवन पर प्रभाव

क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की परिभाषा, स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आवश्यक चर्चा करने के उपरान्त यह जानना आवश्यक है कि हमारे जीवन में इनका क्या प्रभाव पड़ता है ?

यदि लौकिक जीवन के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो यह स्पष्ट ही है कि हमारी क्रियायें ही जगत को प्रभावित करती हैं तथा हम भी दूसरों की क्रियाओं से प्रभावित होते है। परिणाम भी जब तक क्रिया में न उतरें अर्थात् क्रियान्वित न हों, तब तक उनका लोकजीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी व्यक्ति को चोरी करने या किसी की हत्या करने का भाव आए, परन्तु वह चोरी या हत्या न करे तो उससे किसी दूसरे को कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इसलिए लौकिक कानून भी मात्र परिणामों के आधार पर किसी को अपराधी नहीं मानता । वह तो तभी अपराधी मानता है, जब क्रिया में अपराध हो गया हो । इस विषय पर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपनी कृति "अहिंसा : एक विवेचन" में विशेष प्रकाश डाला है।

परिणामों के समान अभिप्राय भी लोकजीवन पर सीधा प्रभाव नहीं डालता। वह भी परिणामों के माध्यम से वाणी में या क्रिया में व्यक्त हो, तभी प्रभावित करता है। यदि कोई व्यक्ति आपके मकान को अपना मकान मानता रहे, परन्तु किसी से कुछ कहे नहीं व आपके मकान में जाए भी नहीं, तो इससे आपको क्या फर्क पड़ेगा ? कुछ भी नहीं।

स्त्री, पुत्र, मकान शरीरादि को हम अनादि से अपना मान रहे हैं, तो क्या इससे वे सचमुच में हमारे हो गये ? नहीं । प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्ध

परिणामों में स्वाधीन और सहज परिणमन कर रहा है। हमारा विपरीत अभिप्राय भी इसी विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत स्वाधीनता से अपना परिणमन कर रहा है, परन्तु उससे विश्व की व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि लौकिक व्यवस्था पर बाह्य-क्रिया का सीधा प्रभाव पड़ता है। परिंणाम और अभिप्राय जब क्रिया के माध्यम से व्यक्त होते हैं, तभी जगत के जीव उनसे प्रभावित होकर प्रसन्न या अप्रसन्न होते हैं।

दूसरों की श्रेष्ठता का मूल्याँकन क्रिया से ही करना चाहिए, समाज में यही होता है और यही सम्भव है; परन्तु स्वयं का मूल्याँकन मात्र क्रिया से नहीं, अपितु परिणामों और अभिप्राय से करना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति मान-प्रतिष्ठा के लिए या किसी पद की प्राप्ति के लिए अथवा टैक्स आदि बचाने के लिए किसी संस्था को दान देता है, तो उसके ऐसे परिणामों का फल तो उस व्यक्ति को ही मिलेगा। संस्था को तो दान ही मिला और इससे उसकी गतिविधियों का प्रचार-प्रसार ही होगा। उसने किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दान दिया है – इसका संस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संस्था तो उसके दान के प्रति कृतज्ञता ही व्यक्त करेगी।

यद्यपि परिणाम और अभिप्राय लौकिक व्यवस्था को सीधा प्रभावित नहीं करते; तथापि सुःख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि तो इन्हीं पर निर्भर करते हैं। प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट भी किया गया है कि हमें दुःखों से मुक्त होने के लिए क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का स्वरूप समझना है। अतः बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है – इस तथ्य की मीमाँसा करना आवश्यक है।

**(1) क्रिया का प्रभाव :-** पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो बाह्य-क्रिया से बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि कभी भी नहीं होते, अर्थात् जीव के लिए बाह्य-क्रिया का फल शून्य है, अकिञ्चित्कर है। बाह्य-क्रिया

प्रधान जगत को यह बात असत्य,अटपटी और एकान्त आदि न जाने क्या-क्या लगेगी; परन्तु आगम, युक्ति और अनुभव की कसौटी पर कसकर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि वस्तुस्वरूप ऐसा ही है।

एक शिकारी वन में भागते हुए हिरण पर गोली चलाता है, किन्तु निशाना चूक जाने से वह हिरण बच जाता है। अब आप ही बताइये कि शिकारी को हिंसा का पाप लगना चाहिए या नहीं ? कोई भी समझदार व्यक्ति यही कहेगा कि उसे हिंसा का पाप अवश्य लगना चाहिए ? तब मैं पूछता हूँ कि क्यों लगना चाहिए ? हिरण तो मरा नहीं। तब वह यही कहेगा कि हिरण का मरना या बचना तो उसकी आयुकर्म के क्षय या उदय के आधीन है, परन्तु उस शिकारी ने मारने का भाव तो किया ही है। अतः बन्ध तो परिणाम से हुआ क्रिया से नहीं।

प्रश्न :- उसने मारने का प्रयत्न भी तो किया है ? तो उसे हिंसा का बन्ध होने के कारणों में प्रयत्न को भी क्यों न कहा जाए ?

उत्तर :-प्रयत्नरूपी क्रिया पर परिणामों का आरोप करके असद्भूत व्यवहारनय से प्रयत्न को भी बन्ध का कारण कह सकते हैं। आगम में भी कहा जाता है ; परन्तु यहाँ तो यह विचार करना है कि वास्तविक स्थिति क्या है ? बन्ध का असली कारण क्या है ? यदि क्रिया मात्र से बन्ध होता हो तो एक-सी क्रिया करने वाले जीवों को एक-सी कर्म प्रकृति और एक-से स्थिति-अनुभाग बन्ध होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता।

शास्त्रों में कथानक आता है कि वन में आत्मध्यान में लीन एक दिगम्बर मुनिराज का भक्षण करने के लिए एक सिंह उन पर झपटता है। उसी समय एक शूकर उसे देख लेता है और वह मुनिराज को बचाने के लिए सिंह पर आक्रमण कर देता है। आपस में लड़ते हुए उन दोनों का प्राणान्त हो जाता है और सिंह नरक में जाता है, परन्तु शूकर स्वर्ग में जाता है।

उक्त कथानक से स्पष्ट होता है कि एक-सी क्रिया होने पर भी एक को पाप का बन्ध हुआ है और दूसरे को पुण्य का बन्ध हुआ।

प्रश्न :- सिंह मुनि को मार रहा था और शूकर उन्हें बचा रहा था, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि दोनों की क्रिया एक-सी थी ?

उत्तर :- अरे भाई ! मारने या बचाने का भाव तो उनके परिणामों में था, उसके लिए वे एक-दूसरे को मारने की क्रिया ही तो कर रहे थे ! असल में जगत अपने भावों का आरोप करके ही क्रिया का परिचय देता है। इसलिए सिंह के परिणामों का आरोप उसकी क्रिया पर करके यह कहा जाएगा कि वह मुनिराज को मार रहा था; अतः उसकी क्रिया पाप-क्रिया कहलाएगी, और शूकर के परिणामों का आरोप उसकी क्रिया पर करके यह कहा जाएगा कि वह उन्हें बचा रहा था। अतः उसकी क्रिया शुभ-क्रिया कहलाएगी; क्योंकि भावों के बिना क्रिया अच्छी-बुरी कुछ भी नहीं होती। आगम में भी क्रिया पर भावों का आरोप करके मन-वचन-काय की शुभ-क्रिया को शुभ-योग और अशुभ-क्रिया को अशुभ-योग भी कहा गया है।

प्रश्न :- उक्त क्रिया और परिणाम के साथ उन दोनों के अभिप्राय में क्या था ?

उत्तर :- सिंह तो अज्ञानी ही था, क्योंकि यदि वह ज्ञानी होता तो उसे मुनिराज पर उपसर्ग करने का भाव ही न आता। उसके अभिप्राय में यही अज्ञान मिथ्यात्व था कि 'मैं सिंह हूँ, यह व्यक्ति मेरा भोजन है, मैं अपने पराक्रम से इसे मारकर खा सकता हूँ। मैं इसे खाऊँगा तो सुखी हो जाऊँगा। इसप्रकार उसके अभिप्राय में सातों तत्त्वों सम्बन्धी भूल विद्यमान थी।

सिंह को पूर्वभव के बैर के कारण भी मुनिराज पर उपसर्ग करने का भाव आ सकता है । इस स्थिति में भी वह उन्हें अपना शत्रु मानकर विपरीत अभिप्राय का पोषण कर रहा है ।

शूकर ज्ञानी भी हो सकता है और अज्ञानी भी; क्योंकि मुनिराज का

उपसर्ग दूर करने का भाव ज्ञानी और भद्र परिणामी अज्ञानी दोनों को हो सकता है। यदि उसे ज्ञानी माना जाए तो उसके अभिप्राय में यही वृत्ति होगी कि 'मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा हूँ, मुनिराज का उपसर्ग दूर करना मेरी क्रिया नहीं है तथा ऐसा शुभभाव भी मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसे अभिप्राय के साथ-साथ उसके परिणाम इसप्रकार के हुए कि – 'धन्य हैं ये मुनिराज, जो अपने स्वरूप की साधना कर रहे हैं और धिक्कार है इस सिंह को, जो ऐसे महान धर्मात्मा पर उपसर्ग कर रहा है, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायें, परन्तु मैं मुनिराज पर उपसर्ग नहीं होने दूँगा......।'

इसप्रकार शूकर का अभिप्राय उसके परिणामों और क्रिया से भिन्न था। इस सम्यक् अभिप्राय के कारण उसे सिंह से लड़ते समय भी आँशिक शुद्धता और संवर-निर्जरा वर्त रही थी और शुभ परिणाम से देवगति का बन्ध हो रहा था। उसके शुभ-बन्ध में उसके परिणाम निमित्त मात्र थे, परन्तु क्रिया तो जड़ शरीर में हो रही थी, अतः उस शुभ बन्ध में उसका कोई योगदान नहीं था।

यदि उस शूकर को अज्ञानी माना जाए तो उपर्युक्त शुभभाव के साथ-साथ वह अभिप्राय में अपने को शूकर मानकर मुनिराज का उपसर्ग दूर करने की क्रिया का कर्ता मानता था। इस विपरीत अभिप्राय के कारण उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायों का बन्ध हो रहा था, परन्तु शुभ परिणामों से मरण होने से वह स्वर्ग में गया।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि क्रिया न तो पाप-बन्ध का कारण है, न पुण्य-बन्ध का और न मुक्ति का कारण है। क्रिया तो 'पेकिंग' है और परिणाम 'माल' है। जैसा माल होगा, वैसी ही पेकिंग कही जाएगी।

क्रिया तो परिणामों की ही अभिव्यक्ति है अर्थात् हम मन के निमित्त से होने वाले रागादि भावों को वचन और काय के माध्यम से व्यक्त करते

हैं। वचन और काय की क्रियायें भी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही की जाती हैं।

मन के विकल्पों के अनुसार होने वाली क्रियायें हमारे संयोग-वियोग यश-अपयश आदि में निमित्त बनती हैं।

बन्ध और मोक्ष के समान सुख-दुःख का वेदन भी परिणामों के अनुसार होता है, क्रिया के अनुसार नहीं। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे दिये गये प्रकरण में किया जा रहा है।

**2. परिणामों का प्रभाव :-** यद्यपि परिणामों के फल का संकेत क्रिया के फल के साथ किया जा चुका है, तथापि यहाँ परिणामों के फल का विशेष स्पष्टीकरण किया जाना अभीष्ट है।

क्रिया का फल शून्य है तो परिणामों का फल शत-प्रतिशत अर्थात पूरा का पूरा मिलता है। यहाँ परिणामों से आशय मुख्यतया शुभाशुभभावों से और वीतरागभावों से है, क्योंकि ये भाव ही बन्ध-मोक्ष या दुःख-सुख के कारण होते हैं। शत-प्रतिशत से आशय यह है कि जैसे मन्द या तीव्र शुभाशुभभाव होंगे वैसे ही मन्द या तीव्र लौकिक सुख-दुःख होंगे और वैसी ही कर्म-प्रकृतियाँ उतने ही स्थिति-अनुभाग सहित बधेंगी। जितने अंशों में वीतराग परिणति होगी, उतना ही अतीन्दिय सुख होगा और उतने अंश में संवर-निर्जरा होगी। इसप्रकार परिणामों का फल पूरा मिलता है और मात्र क्रिया का फल कुछ नहीं है । प्रत्येक जीव को अपने परिणामों का फल भोगना पड़ता है – इस आशय के प्रमाणों की कमी नहीं है।

परिणामों के अनुसार बन्ध-मोक्ष तो होता ही है, लौकिक सुख-दुःख भी परिणामों के अनुसार होते हैं, क्रिया के अनुसार नहीं। यदि चार व्यक्ति एक साथ भोजन कर रहे हों या टी.वी. देख रहे हों, तो सबको एक-सा आनन्द नहीं आएगा; लेकिन जिसका जैसा राग होगा, उसे वैसा सुख (इन्द्रिय सुख) का वेदन होगा।

अनुकूल संयोगों के बीच रहकर भी जीव संक्लेशरूप परिणामों से दुःख का और प्रतिकूल संयोगों के बीच रहकर भी यह जीव मन्दकषाय रूप भावों से सुख का वेदन करता है।

एक मजदूर कठिन परिश्रम करके रूखी रोटी खाकर आनन्द का अनुभव करता है, तथा पत्थर की शिला पर भी चैन की नींद सोता है। जबकि एक सेठ आलीशान वातानुकूलित भवन में रहते हुए भी फैक्ट्री की हड़ताल से चिन्ताग्रस्त होने के कारण विविध मिष्ट-व्यंजन खाते हुए भी न तो उनका आनन्द ले पाता है और न डनलप के गद्दों पर लेटते हुए भी चैन की नींद सो पाता है।

परिणामों के अनुकूल क्रिया हो या न हो, परन्तु तीव्र कषाय में तीव्र दुःख तथा मन्द कषाय में मन्द दुःख होता है। तीव्र दुःख से मन्द दुःख होने पर हम अपने को सुखी अनुभव करते हैं। रागःद्वेष ही हमारे सुखी-दुःखी होने में मूल कारण हैं । इसप्रकार हम परिणामों से सुखी-दुःखी होते हैं और उन्हीं के अनुसार लौकिक प्रवृत्ति भी करते हैं।

इसप्रकार सुख-दुःख का सम्बन्ध भी औदयिक परिणामों से है ; बाह्य संयोग और क्रियाओं से नहीं।

प्रश्नः- बाह्य-क्रिया का फल शून्य और परिणामों का फल शत-प्रतिशत क्यों है ?

उत्तरः- वास्तव में क्रिया का कर्त्ता आत्मा है ही नहीं, क्योंकि बाह्य-क्रिया में आत्मा की और आत्मा में बाह्य-क्रिया की नास्ति है, अर्थात् उनमें परस्पर अत्यन्त अभाव है। जब क्रिया की अपेक्षा आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है, तब वह क्रिया का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? और जब वह क्रिया का कर्त्ता नहीं है, तब उसे क्रिया का फल बिल्कुल न मिले – यह बात न्याय-संगत ही है।

परिणामों का कर्त्ता आत्मा ही है, अतः वही उनके फल अर्थात् सुख-

दुःख को भोगता है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए ग्रन्थाधिराज समयसार का कर्त्ता-कर्म अधिकार और उसकी टीका का गहन अध्ययन-मनन करना चाहिए।

प्रश्नः- आत्मा शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता नही है – यह बात तो निश्चयनय की है; परन्तु व्यवहारनय से तो उसे कर्त्ता कहते हैं ? फिर उसे क्रिया का फल कैसे नहीं मिलता ?

उत्तरः- कहने का नाम ही तो व्यवहार है, अर्थात् वस्तु-स्वरूप तो निश्चयनय का विषय है। जिस नय से आत्मा को शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता कहा जाता है; उसी नय से उसे उसके फल का भोक्ता भी कहेंगे; परन्तु यहाँ वस्तु के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जा रहा है, कथन पद्धति का नहीं। शरीरादि की क्रिया में जीव के परिणाम निमित्त होते हैं। इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय से जीव को शरीरादि की क्रिया का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है।

**3. अभिप्राय का प्रभाव :-** अभिप्राय का हमारे जीवन में अर्थात् बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख पर क्या प्रभाव पड़ता है – यह बात अत्यन्त गंभीरता से विचारणीय है; क्योंकि अभिप्राय, परिणामों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि अत्यन्त व्यापक एवं दूरगामी है; अर्थात् अभिप्राय का फल परिणामों से अनन्त गुना है।

प्रश्नः- परिणामों की अपेक्षा अभिप्राय का फल अनन्त गुना क्यों है?

उत्तरः- अभिप्राय का फल अनन्त गुना इसलिए है कि यदि अभिप्राय में विपरीतता हो तो परिणामों में अनन्तानुबन्धी कषाय रहती है और अभिप्राय की विपरीतता मिटने पर अनन्तानुबन्धी कषाय भी मिट जाती है।

अभिप्राय की वृत्ति का व्यापक स्वरूप देखा जाए तो वह भी परिणामों से अनन्तगुनी अधिक होती है। परिणाम सीमित पदार्थों के प्रति ही समर्पित होते हैं, जंबकि अभिप्राय अनन्त पदार्थों को अपना विषय बनाता है। यदि

हमें भूख लगती है तो हमारी इच्छा एक सीमित मात्रा में ही भोजन करने की होती है और उतने से ही तृप्त हो जाती है, परन्तु यदि हमारे अभिप्राय में यह मान्यता है कि भोजन से सुख होता है, तो फिर अब सीमित मात्रा का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि हमारे अभिप्राय में अनन्त परपदार्थों के प्रति सुखबुद्धि है।

इसीप्रकार यदि हमें किसी व्यक्ति पर क्रोध आता है तो हमारा क्रोध उसी व्यक्ति तक सीमित रहता है, परन्तु यदि हम परपदार्थों से अपना बुरा होना मानें; तो फिर हमारी मान्यता (अभिप्राय) में अनन्त पदार्थों से द्वेष हुआ; यही कारण है कि जब तक विपरीत अभिप्राय है, तब तक जीव अनन्त दुःखी रहता है।

यद्यपि अभिप्राय प्रत्यक्षरूप से हमारी क्रियाओं को प्रभावित नहीं करता, परन्तु वह परिणाम की दिशा को प्रभावित अवश्य करता है। अतः वह परोक्षरूप से क्रियाओं को प्रभावित करता है। हमारी सोच या मान्यता के अनुसार ही हमारे राग-द्वेष परिणाम तथा सुख दुःख होते हैं। एक ही परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने को सुखी अनुभव करता है और कोई दुःखी अनुभव करता है।

यदि हमारा अभिप्राय वस्तु स्वरूप के अनुसार है तो हम हर परिस्थिति में समाधान कर लेंगे। विपरीत अभिप्राय होने पर हम जरा-सी प्रतिकूलता में भी तीव्र आकुलता करेंगे और तीव्र दुःखी होंगे।

इसप्रकार अभिप्राय का फल परिणामों से अनन्त गुना होना न्यायसंगत है– यह बात सरलता से सिद्ध हो जाती है।

प्रश्नः- यदि विपरीत अभिप्राय का फल अनन्त दुःख है तो विपरीत अभिप्राय मिटने पर अर्थात् सम्यक्त्व होने पर अनन्त सुख क्यों नहीं हो जाता ?

उत्तरः- यद्यपि परिणामों में राग-द्वेष और अल्पज्ञता रहने के कारण

अनन्त सुख नहीं होता; तथापि मिथ्यात्वजन्य अनन्त दुःख का तो नाश हो ही जाता है अर्थात् दुःख में अनन्तता नष्ट हो जाती है और अल्पता रह जाती है।

प्रश्नः- यदि क्रिया का फल शून्य बताया जाएगा तो लोग पाप-क्रिया से क्यों डरेंगे ? क्या इससे स्वच्छन्दता का प्रसंग नहीं आएगा ? तथा जिनवाणी में भी पाप-क्रिया छोड़ने का उपदेश क्यों दिया जाता है ?

उत्तरः- क्रिया की भाषा में भी परिणाम की ही बात कही जाती है। क्योंकि कथन तो व्यवहार की मुख्यता से होता है और व्यवहार के द्वारा परमार्थ को ही बताया जाता है। यदि यह कहा जाए कि रात्रि भोजन मत करो तो इसका आशय यही होगा कि रात्रि भोजन का भाव भी मत करो। इसीप्रकार दर्शन, पूजन, व्रतादि करने का उपदेश दिया जाता है तो इसका आशय यह होता है कि ऐसे भाव करो। अतः जो लोग कथन पद्धति को समझते हैं, वे स्वच्छन्दी नहीं होंगे। जिनवाणी में परिणामों का उपचार क्रिया पर करके पाप-क्रिया छोड़ने का उपदेश दिया जाता है। अतः क्रिया का फल शून्य कहने मात्र से स्वच्छन्दता का प्रसंग नहीं आयेगा, अपितु परिणाम का फल मिलता है-- ऐसा जानकर पात्र जीव परिणाम सुधारने का उपाय करेगा, जिससे कषाय मन्द होगी, अतः अनुचित क्रिया का निषेध स्वतः हो जाएगा।

प्रश्नः- जो कथन-पद्धति नहीं समझेंगे, वे तो स्वछन्दी हो जायेंगे; अतः क्रिया की प्रधानता से कथन ही नहीं करना चाहिए ?

उत्तरः- जिसे आत्महित की सच्ची भावना होती है वह जिनवाणी की कथन पद्धति को समझकर ही उसका अर्थ करता है। जब हम लौकिक जीवन में भी कथन का भाव ग्रहण करने की चतुराई रखते हैं; तो आत्महित में इस चतुराई का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते ? यदि नहीं करते तो समझना चाहिए कि हमें आत्महित की सच्ची भावना नहीं है, हम छल कर रहे हैं।

जिसे छल करना है उससे कैसी भी भाषा बोलें वह उल्टा अर्थ ही निकालेगा। यदि यह कहा जाए कि 'पापभाव छोड़ो' तो भी वह पापक्रिया करेगा और यह कहेगा कि 'हम भाव नहीं कर रहे हैं और क्रिया करने का निषेध तो है नहीं' अतः व्यवहार की भाषा में ही परमार्थ समझाया जाता है, अर्थात् क्रिया के माध्यम से ही परिणामों की चर्चा की जाती है।

जीव अपने अभिप्राय और परिणामों का फल भोगता है, अतः अभिप्राय और परिणाम सम्यक् हों, ऐसा प्रयत्न अवश्य करना चाहिए – यही परमार्थ है।

तीर्थंकर भगवन्तों की दिव्य-देशना, निर्ग्रन्थ सन्तों द्वारा रचित वाङ्मय एवं उन्हीं की परम्परा में हुए सैकड़ों ज्ञानी विद्वानों ने मिथ्यात्व को ही संसार का मूल कारण प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि अभिप्राय की विपरीतता का नाश हुए बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट किए बिना, धर्म का अर्थात् मुक्ति के मार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक चौथे से सातवें अधिकार तक मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण करके अभिप्राय की भूल का विस्तृत विवेचन किया है। इन चारों अधिकारों में उन्होंने मिथ्यात्व के विरुद्ध सशक्त क्रान्ति का बिगुल बजाया है; जिसकी झलक इन चारों अधिकारों के मंगलाचरण में ही मिल जाती है। यहाँ क्रमशः वे मंगलाचरण दिए जा रहे हैं। इनमें मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए मिथ्याभाव शब्द का प्रयोग किया गया है।

**इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।**
**तिनकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव ॥ अध्याय-4**

**बहुविधि मिथ्यामतनि करि, मलिन भयो निज भाव।**
**ताको होत अभाव है, सहजरूप दरसाव ॥ अध्याय-5**

**मिथ्या देवादिक भजें, हो है मिथ्याभाव।**
**तज तिनकों साँचे भजो, यह हित-हेत-उपाव ॥ अध्याय-6**

**इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।**
**ताको करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥ अध्याय-7**

सातवें अधिकार के मंगलाचरण में मिथ्यात्व को संसारवृक्ष की जड़ कहा गया है। वृक्ष के पत्ते फल-फूल, शाखायें आदि सभी अंग दिखते हैं; परन्तु जड़ नहीं दिखती, क्योंकि वह जमीन के भीतर रहती है। जड़ न दिखने पर भी सम्पूर्ण वृक्ष का आधार वही है। उसी के द्वारा वृक्ष खुराक लेकर जीवित रहता है। इसीप्रकार बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग संसाररूपी वृक्ष के पत्ते तथा फल-फूल आदि के समान हैं, शुभाशुभभाव उसकी शाखायें हैं और मिथ्यात्व उसकी जड़ है। बाह्य संयोग तो जगत को दिखते हैं, क्रिया के माध्यम से शुभाशुभ परिणाम भी समझ में आ जाते हैं, परन्तु मिथ्यात्व नहीं दिखता। जगत इससे बिल्कुल अपरिचित है। यह तो जैनदर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है कि वह मिथ्यात्व को संसार का मूल कारण तथा सम्यक्त्व को मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का कारण कहता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह– इन पांच पापों से तथा इनके अनिष्ट फल से जगत के अधिकांश लोग परिचित हैं और इन्हें बुरा जानकर छोड़ना भी चाहते हैं। अन्य धर्मों में भी इन्हें बुरा बताया गया है, परन्तु जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन में मिथ्यात्व के बारे में ऐसा गहन चिन्तन नहीं मिलता।

हिंसा आदि पाँच पाप डाकू के समान हैं। जिसप्रकार एक डाकू को देखकर बच्चा भी डर जाता है और जान बचाने का प्रयत्न करता है, क्योंकि वह उसकी वेशभूषा तथा आवाज आदि से पहचान लेता है कि यह डाकू है और मुझे इससे बचना चाहिए। उसीप्रकार जनसामान्य भी हिंसा आदि पाँचों पापों से डरते हैं, उन्हें बुरा जानकर छोड़ने का प्रयत्न भी करते हैं; परन्तु मिथ्यात्व तो डाकू नहीं बल्कि ठग है। डाकू खुले आम चेतावनी देकर लूटता है, जबकि ठग मीठा-मीठा बोलकर अपना हितैषी बनकर लूटता है,

छिपकर वार करता है। अच्छे-अच्छे बुद्धिमान लोग भी ठग के जाल में फँसकर लुट जाते हैं, क्योंकि वह छिपा हुआ गद्दार है।

मैं अपने विद्यार्थी जीवन में 15 अगस्त और 26 जनवरी के दिन एक देशभक्ति गीत सुना करता था; जिसकी निम्न पंक्तियाँ स्मृति पटल पर सदैव अंकित रहती हैं :-

**बिगुल बज रहा आजादी का गगन गूँजता नारों से,**
**मिला रही है आज देश की मिट्टी नजर सितारों से,**

**एक बात कहनी है लेकिन आज देश के प्यारों से,**
**जनता से नेताओं से फौजों की खड़ी कतारों से।**
**सम्हल के रहना अपने घर में छिपे हुये गद्दारों से ।।**

कवि ने स्वतंत्रता दिवस के गौरवशाली प्रसंग में देश की मिट्टी में भी सितारों से नजर मिलाने योग्य स्वाभिमान की बात कहकर 'लेकिन' लगाते हुये घर में छिपे हुये गद्दारों से सम्हलकर रहने की चेतावनी दी है।

आजादी के बाद के भारतीय इतिहास में भी कवि की यह चेतावनी सत्य की कसौटी पर खरी उतरती है। आजादी के बाद सन् 1962 में हम जिसे मित्र समझते थे उसी ने हम पर हमला करके अपनी गद्दारी का परिचय दिया था। शत्रु को मित्र समझने की मिथ्या मान्यता के कारण ही हमें पराजित होना पड़ा, परन्तु उसके बाद सन् 1965 और 1971 में हमारे दूसरे पड़ौसी ने आक्रमण किया, लेकिन वह बुरी तरह पराजित हुआ, न केवल पराजित हुआ बल्कि उसके दो टुकड़े हो गये।

इसप्रकार हमारा देश बाहर के शत्रुओं से अपराजित है, फिर भी देश के भीतर छुपे हुये गद्दार उसे खोखला कर रहे हैं। 31अक्टूबर 1984 को हमारे देश की भूतपूर्व प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी को उन्हीं के सुरक्षाकर्मी ने उन्हीं के निवास स्थान पर मशीनगन से 19 गोलियों से भून दिया था। उनके

पुत्र प्रधानमंत्री राजीव गांधी को भी मानव बम बनी हुई इसी देश की नागरिक एक महिला ने उनके चरण छूने का अभिनय करते हुये मार दिया था। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भी गोड़से ने नमस्कार करके छिपाकर रखी हुई पिस्तौल से मारा था। देश में ही छिपे हुये गद्दारों के कुकृत्यों का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है ? हत्यायें करनेवाले गद्दार तो गद्दार हैं ही; देश के रक्षक बनकर भ्रष्टाचरण से देश का भक्षण करनेवाले गद्दार भी कम नही हैं। विदेशों में छिपाकर रखा गया पैसा ही यदि देश में ले आया जाए तो उसे चुकाकर हम विदेशी कर्ज से पूर्णतया मुक्त हो सकते हैं। ऐसे गद्दार राष्ट्र के हर वर्ग में मौजूद हैं। नेता हों या अधिकारी, सेना हो या पुलिस, सम्पूर्ण तन्त्र में छिपे हुये गद्दार मौजूद है।

शायद इसी कारण से कवि ने जनता, नेताओं और फौजों को सम्बोधित करते हुये लिखा है– 'सम्हल के रहना अपने घर में छिपे हुये गद्दारों से'।

गत बीसवीं शताब्दी में सोनगढ़ के सन्त आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने 45 वर्षों तक मिथ्यात्व के विरुद्ध अभूतपूर्व क्रान्ति का शंखनाद करके दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के इतिहास में एक स्वर्णिम अध्याय रच दिया है। उनकी मंगल वाणी का रसास्वादन करने पर ही मुझे ज्ञात हुआ कि छिपे हुये गद्दार न केवल राष्ट्र और समाज में बैठे हैं, बल्कि हमारे अस्तित्व अर्थात् आत्मा में भी हैं। असंख्यात प्रकार के मिथ्यात्वभाव ही हमारे भीतर छिपे हुये गद्दार हैं, जिनसे यह जगत् अनजान है।

आध्यात्मिक सन्दर्भ में छिपे हुये गद्दारों का स्वरूप समझने से लौकिक सन्दर्भ में कही गई उक्त पंक्तियों का मर्म और अधिक गहराई से भासित होने लगता है। आज लाखों आत्मार्थी भाई-बहन यथार्थ तत्त्व-निर्णय करके इन मिथ्यात्वरूपी गद्दारों को जड़ से उखाड़ फेंकने में संघर्षरत हैं। ऐसा लगता है कि यह आध्यात्मिक क्रान्ति पञ्चमकाल के अन्त तक जीवन्त रहेगी।

प्रश्नः- बन्ध और मोक्ष तो परिणामों से होता है, फिर अभिप्राय का मोक्षमार्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है ? मिथ्यादृष्टि जीव नरक-निगोद और स्वर्गादि चारों गतियों में भ्रमण करता है, तो संसार भ्रमण में अभिप्राय की क्या भूमिका है ?

उत्तरः- यह बात सत्य है कि मिथ्यादृष्टि को चारों गतियों में भ्रमण करने योग्य परिणाम होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिप्राय में विपरीतता होते हुए भी परिणाम नवमें ग्रैवेयक जाने योग्य भी हो जाते हैं; परन्तु जब तक विपरीत अभिप्राय रहेगा, तब तक चारों गति का बन्धन छेदने योग्य संवर-निर्जरा के वीतरागी परिणाम नहीं हो सकते।

विपरीत अभिप्राय की इस धुरी पर ही शुभाशुभ परिणामों का दुष्चक्र चलता है।

एक गाय 10 फुट लम्बी रस्सी से बँधी है और वह रस्सी एक मजबूत खूँटे से बँधी है। 10 फुट के घेरे में वह गाय स्वतन्त्रता पूर्वक घूम-फिर सकती है। वह चाहे बैठे, चले या सो जाए, खूँटा उसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। 10 फुट के घेरे में घूमने में रस्सी का योगदान है, खूँटे का नहीं; परन्तु वह उस घेरे के बाहर नहीं नहीं निकल सकती, इसमें खूँटे का ही कमाल है। यदि खूँटा उखड़ जाए ता वह गले में रस्सी बँधी रहने पर भी घेरे से बाहर भाग जाएगी।

इसीप्रकार यह जीव शुभाशुभ भावरूपी रस्सी से बँधकर चारों गतियों में घूम रहा है, परन्तु वह रस्सी मिथ्यात्वरूपी खूँटे से बँधी है, अतः जीव चार गति के घेरे से बाहर नहीं निकल सकता। मिथ्यात्व का खूँटा उखड़ जाने पर वह घेरे से बाहर आ जाता है अर्थात् मुक्तिमार्ग प्रारम्भ हो जाता है; भले अभी थोड़ी देर पुण्य-पाप की रस्सी बँधी हो, परन्तु वह उसे घेरे के भीतर बाँध नहीं सकती अर्थात् अनन्तानुबन्धी बन्ध नहीं होता।

इसप्रकार संसार भ्रमण का अन्त न होने में मूल कारण विपरीत अभिप्राय ही है।

प्रश्न –

1. *हमारे जीवन में बाह्य-क्रियाओं का क्या स्थान है ? क्रिया का प्रभाव किस प्रकार देखा जाता है ? स्पष्ट कीजिये ?*
2. *परिणामों का प्रभाव हमारे स्वयं के जीवन में और दूसरों के जीवन में किस प्रकार पड़ता है ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये ?*
3. *एक ही क्रिया करते समय दो जीवों के परस्पर विरुद्ध परिणाम कैसे हो सकते है ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए ?*
4. *अभिप्राय का हमारे जीवन में क्या स्थान है ? वह दूसरों को किस प्रकार प्रभावित करता है ?*
5. *क्रिया, परिणाम, और अभिप्राय से प्राप्त होनेवाले फल का तुलनात्मक विवेचन कीजिए ?*
6. *विपरीत अभिप्राय का फल अनन्त दुःख किस प्रकार है ?*
7. *क्रिया का फल शून्य है क्या ? और यदि शून्य है तो पापक्रिया छोड़ने का उपदेश क्यों दिया जाता है ?*
8. *सिद्ध कीजिये कि मिथ्यात्व छिपा हुआ गद्दार है।*
9. *जीव के चतुर्गति भ्रमण में परिणाम और अभिप्राय की भूमिका सुनिश्चित कीजिये ?*

***

# अध्याय

## सम्यक्चारित्र के लिए किए गए विपरीत प्रयत्नों के सन्दर्भ में
## क्रिया, परिणाम और अभिप्राय

क्रिया, परिणाम और अभिप्राय के स्वरूप तथा जीवन में पड़ने वाले प्रभावों की पर्याप्त मीमाँसा करने के पश्चात् अब उस मूल प्रकरण पर विस्तृत चर्चा करने का समय आ गया है, जिसमें आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने उक्त तीनों बिन्दुओं का भिन्न-भिन्न और स्पष्ट उल्लेख करते हुए अभिप्राय की भूल का विशेष स्पष्टीकरण किया है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार में चार प्रकार के जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया गया है। व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टियों का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए पृष्ठ 213 पर पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं –

**"अब व्यवहाराभासपक्ष के धारक जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं – जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे मानकर बाह्य-साधनादिक ही का श्रद्धानादिक करते हैं, उनके सर्वधर्म के अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं – सो विशेष कहते है।"**

उक्त गद्याँश में प्रयुक्त 'बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादिक' वाक्याँश, अभिप्राय की विपरीतता को बताता है। 'सर्वधर्म के अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं'– ऐसा कहकर पण्डितजी ने बाह्य-धर्माचरण पर विपरीत अभिप्राय का आरोप करके क्रियाओं को ही मिथ्याभाव के रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रश्न :- मिथ्याभाव शब्द के अर्थ में मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों शामिल हैं तो आप मिथ्याभाव का अर्थ सिर्फ अभिप्राय क्यों करते हैं ?

उत्तर :- विपरीत अभिप्राय होने पर ही ये तीनों मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं, अतः मुख्यता की अपेक्षा मिथ्याभाव शब्द का अर्थ विपरीत अभिप्राय करने में कोई दोष नहीं है।

क्रियाओं पर शुभाशुभ परिणामों का आरोप करके उन्हें शुभक्रिया या अशुभक्रिया कहने के प्रयोगों से तो सारा जिनागम भरा पड़ा है; परन्तु क्रियाओं पर विपरीत अभिप्राय का आरोप करके उन्हें मिथ्या कहने के प्रयोग बहुत कम हैं।

इसी प्रकार शुभभावों पर विपरीत अभिप्राय का आरोप करके उन्हें शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति कहते हुए वे लिखते हैं :-

**"यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से पुण्यबन्ध होता है; इसलिए पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहार प्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग में सन्मुख करने के लिए उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी निषेधरूप निरूपण करते हैं।"**

इस गद्यांश में 'शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग शुभभाव एवं शुभक्रिया में मिथ्या अभिप्राय का आरोप करके किया गया है।

पण्डितजी ने व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि के चार प्रकार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं –

(1) कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी – पृष्ठ 215
(2) परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी, पृष्ठ 216
(3) सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी, पृष्ठ 218-21
(4) धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी – पृष्ठ 221 से 248

यह पहले ही कहा जा चुका है कि निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास मान्यता अर्थात् अभिप्राय की विपरीतता है, क्रिया और परिणाम की नहीं। उक्त चारों प्रकार के व्यवहाराभासी में पहले और दूसरे 'भोले या भद्र मिथ्यादृष्टि' कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें धर्म करने की भावना है। तीसरे प्रकार के जीव धर्म तो करना ही नहीं चाहते, परन्तु आजीविका आदि लौकिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए अपने को धर्मात्मा दिखाने के लिए धर्माचरण करते हैं, अतः वे 'बेईमान मिथ्यादृष्टि' हैं।

प्रश्न :- यदि आजीविका के लिए धर्म साधन करना मिथ्यात्व है तो आज अनेक संस्थाओं में जो विद्वान या अन्य कर्मचारी वैतनिक सेवायें देते हैं वे भी मिथ्यात्व के पोषक कहे जायेंगे ?

उत्तर :- मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में तीसरे प्रकार के व्यवहाराभासियों का वर्णन करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने मुनिराजों के सन्दर्भ में स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान करते हुए पृष्ठ 219 में कहा है:-

**"वे आप तो कुछ आजीविकादि प्रयोजन विचारकर धर्मसाधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयं भोजनादि उपकार करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप भोजनादिक का प्रयोजन विचारकर धर्म साधता है, तो पापी है ही।"**

वास्तव में यह व्यवहाराभास भी अभिप्राय में होता है, क्रिया में नहीं। कुछ लोग 'खाने के लिए जीते हैं' और कुछ लोग 'जीने के लिए खाते' हैं, खाने और जीने की क्रिया समान होने पर भी दोनों के अभिप्राय में अन्तर है।

आजीविका के लिए धर्म साधन करना अलग बात है और धर्म प्रचार के संकल्प पूर्वक सारा जीवन उसमें समर्पित करके जीवन-यापन के लिए वेतनादि लेना अलग बात है। दोनों परिस्थतियों में अभिप्राय का अन्तर है।

यह बात भी गहराई से विचारणीय है कि देव-पूजा, स्वाध्याय, संयम आदि व्यवहार धर्म का प्रयोजन तो आत्महित का पोषण है, जबकि संस्थाओं की धार्मिक गतिविधियों के संचालन हेतु कार्य करना व्यवहार धर्म का अंग नहीं है, वह तो धर्म पिपासु जीवों के लिए की गई सेवा है। व्यवहार धर्म तो प्रत्येक साधक के जीवन में अनिवार्यरूप से सहज होता है, जबकि संस्थाओं में सेवा देना अनिवार्य व्यवहार धर्म नहीं है। यह बात अलग है कि आत्मार्थी जीव इन कार्यों से भी मान-लोभादि का पोषण न करके अध्यात्म रस का ही पोषण करें।

चौथे प्रकार के जीव किसी को दिखाने के लिए नहीं अपितु मुक्ति प्राप्त करने के लिए धर्माचरण करते हैं, परन्तु शुभभाव और बाह्य-क्रिया में धर्म मानते हैं। यह मान्यता ही व्यवहाराभास है।अतः वे 'ईमानदार मिथ्यादृष्टि' कहे जा सकते हैं। धर्मधारक शब्द धार्मिक क्रिया और शुभ परिणाम का वाचक है तथा 'धर्मबुद्धि' शब्द उस क्रिया और शुभभाव में धर्म माननेरूप मिथ्या अभिप्राय का वाचक है। बाह्यक्रिया और शुभभाव में धर्म मानना ही 'पेकिंग' को 'माल' मानने के समान विपरीत अभिप्राय है, जिसे व्यवहाराभास कहा गया है।

उक्त व्यवहाराभासी प्रकरण के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन और सम्यग्यज्ञान के लिए किए गए प्रयत्नों में होने वाली विपरीतता का वर्णन करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र के लिए किए गए प्रयत्नों में होने वाली विपरीतता का वर्णन करते हुए पण्डितजी ने क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की स्थिति स्पष्ट की है।

इसी पुस्तक के पृष्ठ 7 पर वह अंश उद्धृत किया गया है, जिसमें वे क्रिया और परिणाम का वर्णन निम्न वाक्याँश द्वारा करते हैं :-

**"बाह्य क्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नही है ....।"**

उक्त वाक्यांश में यह स्पष्ट किया गया है कि सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील व्यवहाराभासी जीव बाह्यक्रिया पर दृष्टि रखता है अर्थात् चारित्रवन्त श्रावक या साधुओं के समान व्रत, शील, संयमादिरूप क्रियायें उसकी भी होती हैं, वह उन्हीं को धर्म मानकर उनका निर्दोष पालन करता है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिनकी क्रिया निर्दोष अर्थात् आगमानुकूल है; यहाँ उनके ही परिणाम और अभिप्राय का विश्लेषण करना है। जिनकी क्रिया का ही ठिकाना नहीं है अर्थात् जो पापाचरण में लिप्त हैं – ऐसे गृहस्थों की तथा जिनका धर्माचरण भी आगमानुकूल नहीं है, ऐसे कथित धर्मात्माओं की यहाँ बात नहीं है।

बाह्यक्रियाओं का निर्दोष आचरण करने वालों के परिणामों की चर्चा करते हुए ही यह गया है कि 'परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है।'

प्रश्न :- परिणाम के बिगड़ने या सुधरने का क्या अर्थ है ?

उत्तर :- हमारा प्रयोजन दुःख दूर करना और सुखी होना है, और मोह-राग-द्वेष आदि सभी विकारीभाव दुःखरूप और दुःख का कारण होने से बिगड़े हुए परिणाम हैं, तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि स्वाश्रित वीतरागी परिणाम सुखरूप और सुख के कारण होने से सुधरे हुए परिणाम हैं। सामान्यतया बिगड़ने-सुधरने का यही अर्थ है। परन्तु यहाँ क्रिया के सन्दर्भ में बिगड़ने-सुधरने का अर्थ करना चाहिए। अतः जैसी धार्मिक क्रिया हो रही हो उस समय वैसे ही भाव न होना, उससे विपरीत भाव होना, बिगड़ा हुआ परिणाम है तथा वैसे ही भाव होना सुधरा हुआ परिणाम है।

प्रश्नः- यदि पूजन करते समय प्रवचन सुनने के या प्रवचन सुनते समय पूजन करने के भाव होने लगें तो वे परिणाम सुधरे कहे जायेंगे या बिगड़े ?

उत्तरः- दोनों ही कार्य अशुभ से बचने के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, अतः उन्हें बिगड़े कहने में संकोच होता है, परन्तु चित्त की वृति चञ्चल हुई

है – इस अपेक्षा से तो वे बिगड़े ही कहे जायेंगे, क्योंकि वह पूजन कर रहा है और वहाँ से चित्त हटकर दूसरी जगह गया तो उन भावों में शिथिलता हुई। यदि एक विद्यार्थी गणित की कक्षा में अंग्रेजी की किताब पढ़े तो वह दण्डनीय होगा या प्रशंसनीय ? वास्तव में वह दण्डनीय ही होगा। यदि वह गणित में होशियार हो और अंग्रेजी में कमजोर, तो उसे गणित के अध्यापक से अनुमति लेकर पुस्तकालय में अंग्रेजी का अध्ययन करना चाहिए; परन्तु गणित की कक्षा में बैठकर अंग्रेजी पढ़ने से गणित विषय का तथा गणित के अध्यापक का अपमान होगा और गलत परम्परा को प्रोत्साहन मिलेगा। गाँधीजी को भी एक बार बीमार पिता की सेवा करने के लिए भी कक्षा से अनुपस्थित रहने पर दण्ड मिला था।

परिणामों के असंख्यात भेद होते हैं, अतः उक्त विश्लेषण स्थूल दृष्टि से किया गया है – ऐसा समझना चाहिए। यदि पूजन में कोई तत्त्व की बात आ गई हो और मन उसी में रम जाए तो यह तो पूजन की सार्थकता हुई। यह परिणाम पूजन के प्रयोजन का पोषक होने से सुधरा हुआ ही कहा जाएगा।

प्रश्नः- अभिप्राय सुधरे बिना परिणाम सुधर सकते हैं या नहीं ?

उत्तरः- अभिप्राय सुधरे बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन हुए बिना वीतराग भाव प्रारम्भ ही नहीं होता अर्थात् परिणाम नहीं सुधर सकते। इसीलिए तो सम्यग्दर्शन को मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। व्यवहारिक दृष्टि से सम्यक्त्व सम्मुख मिथ्यादृष्टि को होने वाली तत्त्वरुचि, आत्महित की भावना, तत्त्व निर्णय, स्वरूप सन्मुखता का प्रयत्न आदि शुभभावों को सुधरे हुए परिणाम कहा जाता है। तीव्र पाप की अपेक्षा मन्द पाप को भी सुधरा हुआ परिणाम कहा जाता है, किन्तु यह सब स्थूल/लौकिक/व्यवहार कथन है।

प्रश्न :– यदि धन्धा-व्यापार करते समय तत्त्व-चिन्तन करने लगें तो वह परिणाम बिगड़ा हुआ कहा जाएगा। या सुधरा ?

उत्तर :- यद्यपि व्यापार में हानि का निमित्त होने से वह परिणाम बिगड़ा हुआ है; तथापि आत्महित की दृष्टि से वह परिणाम सुधरा हुआ ही कहा जाएगा। धन्धे-व्यापार, विषय-कषाय आदि के परिणामों का बिगड़ना अर्थात् उनमें मन्दता होना, उत्साह-हीन होना – इसमें ही आत्महित के अवसर हैं।

धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी का प्रकरण प्रारम्भ करने के पहले पण्डित टोडरमलजी ने व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति का मार्मिक चित्रण करते हुए उनके भक्ति, दान, व्रत, तप, पूजा तथा शास्त्राभ्यास आदि धर्माचरण का तथा उस समय होने वाले परिणामों के स्वरूप का वर्णन किया है। पृष्ठ 220 पर किया गया निम्न वर्णन बारम्बार पठनीय है।

**''उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति–**

अब, इनके धर्म का साधन कैसे पाया जाता है, सो विशेष बतलाते हैं :-

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुखसे पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ। किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठ में क्या अर्थ है; सो कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने में लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादि की विशेष पहचान नहीं है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महन्तपना हो वह कार्य करता है, परिणामों की पहचान नहीं है।

व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अंतरंग रागादि भाव पाये जाते हैं उनका विचार ही नहीं है, तथा बाह्य में भी रागादि के पोषण के साधन करता है।

तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोक में बड़ाई हो व विषय-कषाय का पोषण हो, उस प्रकार का कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है।

सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो वह कार्य करना कहा है। सो परिणामों की पहचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है – ऐसे नफा-टोटे का ज्ञान नहीं है व विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।

तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धति रूप प्रवर्तता है। यदि बाँचता है तो औरों को सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते है वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है उसे आप अन्तरंग में नहीं अवधारण करता-इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहचानता।

कितने तो जिस प्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं, उसी प्रकार हमें भी करना है अथवा दूसरे करते हैं वैसे हमें भी करना है, व ऐसा करने से हमारे लोभादिक की सिद्धि होगी – इत्यादि विचार सहित अभूतार्थ धर्म को साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्म बुद्धि भी है; इसलिए पूर्वोक्त प्रकार भी धर्म का साधन करते हैं और कुछ आगे कहते है उस प्रकार से अपने परिणामों को भी सुधारते हैं – मिश्रपना पाया जाता हैं।"

उक्त गद्यांश से स्पष्ट होता है कि धर्म का मर्म पहिचाने बिना अर्थात् अभिप्राय की विपरीतता मिटे बिना किया जाने वाला धर्माचरण कैसा और अन्तरंग परिणाम कैसे होते हैं ? इसलिए धर्म करने के लिए सर्वप्रथम वस्तु-स्वरूप को यथार्थ समझकर विपरीत अभिप्राय अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा 45 वर्षों तक वस्तु-स्वरूप का विशद् विवेचन किया गया है। हम सब उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के रसिक हैं तथा यथाशक्ति उसका अभ्यास भी करते हैं। फिर भी हम अपनी क्रिया और परिणामों में सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाते, क्योंकि हम अभिप्राय की विपरीतता को गहराई से नहीं समझ पाए।

हमारी भक्ति, पूजा, स्वाध्याय आदि कार्यक्रम जब सार्वजनिक स्तर पर होते हैं, तब तो क्रिया और परिणामों का असन्तुलन और अधिक बढ़ जाता है। हम इतना भी विवेक नहीं रख पाते कि भगवान के सामने कौन-सी भक्ति बोलना चाहिए और कौन-सी नहीं ? वास्तव में जिन-प्रतिमा के समक्ष उनका गुणानुवाद ही होना चाहिए। प्रसंगानुसार अपनी लघुता और दोषों का वर्णन भी आ जाता है तथा जिनेन्द्र भगवान से अपने मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर वीतरागभाव प्रगट होने की कामना भी की जाती है; परन्तु देखा जाता है कि कुछ लोग भगवान के सामने खड़े होकर स्तवन आदि के रूप में अहमिक्को खलु शुद्धो.... जैसी गाथायें बोलने लगते हैं। ऐसी आध्यात्मिक गाथायें तो पाठ करने के लिए उपयोगी हैं, भगवान को सुनाने के लिए नहीं।

जरा विचार कीजिए कि **'जे दिन तुम विवेक बिन खोए....'** अथवा **'हम तो कबहुँ न निज घर आए....'** जैसे उपदेशी भजन अथवा शुद्धात्म तत्त्व की महिमा का उल्लेख करने वाली रचानायें क्या जिन-प्रतिमा के समक्ष बोलने योग्य हैं ? ये सब चीजें अलग से बैठकर पाठ करने की तथा शास्त्र सभाओं में प्रवचनोपरान्त बोलने की हैं।

यदि कदाचित् जिनेन्द्र-देव के गुणानुवाद वाली रचनायें बोलें तो भी हम स्वर, ताल, वाद्ययन्त्र, नृत्य आदि की इतनी अधिक मुख्यता कर लेते हैं कि मूलभाव का उनसे कोई तालमेल नहीं बैठता।

भक्ति के एक कार्यक्रम में बड़े भाव-विभोर होकर तालियाँ बजा-बजा कर निम्न पंक्तियाँ गाई जा रही थीं :-

हमने तो घूमी चार गतियाँ, न मानी जिनवाणी की बतियाँ
नरकों में बहु दुःख उपजाये, पशु बनके बहु डण्डे खाए....

इस गीत के साथ तीव्र-गति से तबला, ढोलक आदि वाद्ययन्त्र बज रहे थे और एक युवक उसी लय पर कमर हिला हिलाकर नाच रहा था।

जरा सोचिए..... उक्त गीत के भावों के साथ तालियों का और उत्साह पूर्वक झूम-झूमकर नाचने का कोई तालमेल है ? इस गीत के समय तो चारों गति के दुःखों का स्मरण करके खेद वर्तना चाहिए। इसे 'परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है' न कहा जाए तो क्या कहा जाए ?

तत्त्व से अनभिज्ञ भोले-भाले लोगों को नाच-गान में ही अधिक आनन्द आता है तथा उन्हें ऐसा लगता है कि दान में दिया गया पैसा वसूल हो गया। आयोजक भी विद्वानों से यही अपेक्षा रखते हैं कि पडिण्तजी ऐसा कार्यक्रम करायें कि लोगों को मजा आ जाए और गंभीरता से विचार किए बिना पडिण्तजी को भी ऐसा कार्यक्रम कराना पड़ता है कि लोगों को मजा आ जाए, तथा आयोजकों को अधिक से अधिक पैसा मिल जाये।

मधुर कण्ठ के धनी और स्वर-ताल के रसिक लोगों के परिणाम तो बहुत जल्दी मूलभाव से विचलित हो जाते हैं। यदि पूजन-पाठ की धुन, स्वर, लय आदि उनकी इच्छानुकूल न हुए तो उनका मूड खराब हो जाता है और पूजन-पाठ बोलते या सुनते हुए भी उनके परिणाम संक्लेशरूप हो जाते हैं। यदि सब कुछ उनके पसन्द के अनुसार हुआ तो वे उसी में तन्मय होकर भाव-विभोर होकर पूजन-पाठ करते हैं।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो लय, ताल, स्वर, धुन आदि सब बढ़िया होना ही चाहिए, नहीं तो पूजन-पाठ में भाव ही नहीं लगेंगे ?

उत्तर :- अरे भाई ! जरा गम्भीरता से तो सोचो कि भाव किसमें लगे ? पूजन में बोले जा रहे छन्दों के अर्थ में या मधुर कण्ठ और संगीत में, यहीं तो हमें विवेक की आवश्यकता है। हम तन्मय होते हैं गीत-संगीत में, कर्णेन्द्रिय के विषय में और यह मानकर सन्तुष्ट होते हैं कि पूजन में बहुत आनन्द आया। क्या यह विषयानन्दी रौद्र ध्यान नहीं है ? बहुत से अविवेकी लोग ऐसे प्रसंगों में यह भी बोलने लगते हैं कि बोलो 'आज के आनन्द की जय'। वे यह भी नहीं विचारते कि यह आनन्द कौन-सा है; वह जय करने लायक है या पराजय करने लायक है ?

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो पूजन में गीत-संगीत का प्रयोग बिल्कुल नहीं होना चाहिए ?

उत्तर :- जब हम व्यक्तिगत स्तर पर नित्य पूजन करते हैं तब तो स्वर-ताल गीत-संगीत की आवश्यकता ही नहीं है। उस समय तो हमारी आवाज भी इतनी मन्द होना चाहिए कि दर्शन-पूजन करने वाले अन्य साधर्मियों को विघ्न न हो।

यदि पूजन-विधान का कार्यक्रम सामूहिक रूप में हो रहा हो, तो उनका वाचन छन्द के अनुरूप तथा स्वर-ताल सहित होना चाहिए, क्योंकि यदि बेसुरा और बेताला अर्थात् अव्यवस्थित वाचन होगा तो बहुत अशोभनीय लगेगा और लोगों का मन ही नहीं लगेगा तो वे विकथा करने लगेंगे। किन्तु इसके लिए गान-विद्या में गन्धर्वो जैसी कुशलता की आवश्यकता नहीं है तथा वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग भी आवश्यक नहीं है। गाने के लिए हमारी सामान्य बुद्धि और बजाने के लिए हाथों की तालियाँ ही पर्याप्त हैं। यदि प्रकृति ने हमें अच्छी आवाज नहीं दी तो हमें मन्द आवाज में दूसरों के साथ मिलकर गाना चाहिए। माइक पर गाने का लोभ बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

बहुत बड़े कार्यक्रमों भी में वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग आटे में नमक जितने अनुपात में अर्थात् बहुत मन्द आवाज में होना चाहिए। आजकल अनेक स्थानों पर यह समस्या उत्पन्न होती है कि उत्साही युवक तेज गति में तबला, ढोलक आदि बजाते हैं; जिससे 40-45 वर्ष से अधिक उम्र वाले लोगों के कानों में तकलीफ होने से वे विरोध करते हैं। स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि युवक उनकी सुनते नहीं और बुजुर्गों को सामूहिक पूजन में आना बन्द करना पड़ता है।

आज-कल पूजन के प्रत्येक छन्द को अलग-अलग धुनों में गाने का फैशन बन गया है। वह धुन बिठाने के लिए उसी धुन में प्रचलित भक्ति बोली जाती है और उस भक्ति के बोल प्रसंगानुकूल भी नहीं होते। वह भक्ति भी सिनेमा के श्रृंगार पोषक गानों की तर्ज में होती है, जिसमें शालीनता का अभाव होता है। पूजन में तप-कल्याणक के छन्द की धुन बिठाने के लिए जन्म-कल्याणक की भक्ति भी चलती है। एक पञ्चकल्याणक महोत्सव में पाण्डुक शिला पर जन्माभिषेक के समय उत्साही युवा मण्डली गाने लगी– 'होली खेलें मुनिराज अकेले वन में'। जरा विचार कीजिए कि जन्माभिषेक के समय यह गीत गाने का क्या औचित्य है। वास्तव में बार-बार धुन बदलने की आवश्यकता नहीं है, यह भी कर्णेन्द्रिय-विषय के लोभ का प्रतीक है।

यहाँ क्रिया और परिणामों की विसंगतियों का विस्तृत विवेचन इसी उद्देश्य से किया गया है कि हम पूजन-पाठ के भावों पर ही लक्ष्य रखें तथा गीत-संगीत को अत्यन्त गौण रखते हुए उक्त विसंगतियों से बचें।

उक्त परिस्थितियों में क्रिया और परिणाम दोनों विकृत हैं, जबकि इस प्रकरण में पडिण्तजी ऐसी परिस्थितियाँ बताना चाहते हैं, जिनमें क्रिया यथार्थ होते हुए भी परिणाम और अभिप्राय विकृत होते हैं। सातवें अधिकार के पृष्ठ 238-239 पर उपवास करते समय कैसे-कैसे परिणाम हो जाते हैं – इसका मार्मिक चित्रण निम्न शब्दों में किया गया है :-

"कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं; परन्तु अन्तरंग में विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिए जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे– कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दुःखी हुआ रोगी की भाँति काल गँवाता है, धर्म साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सुधरती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न ले ? दुःखी होने में आर्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा ? अथवा उस प्रतिज्ञा का दुःख नहीं सहा जाता तब उसके बदले विषय-पोषण के लिए अन्य उपाय करता है।

जैसे– तृषा लगे तब पानी तो न पिये और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे, व घृत तो छोड़े और अन्य स्निग्ध वस्तु का उपाय करके भक्षण करे। – इसीप्रकार अन्य जानना"।

क्रिया और परिणामों का सुमेल कैसा होता है– इसका दिग्दर्शन करते हुए पण्डितजी पृष्ठ 240 पर लिखते हैं –

"सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादिक दूर हुए हों, उसके अनुसार जिस पद में जो धर्म क्रिया सम्भव हो, वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादिक मिटे हों तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे; परन्तु उच्च पद धारण करके नीची क्रिया न करे।"

परिणामों के सुधरने-बिगड़ने की चर्चा के उपरान्त अभिप्राय की चर्चा करते हुए पृष्ठ 238 पर पण्डितजी लिखते हैं –

"......और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है, परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है, उसका विचार नहीं करते।"

उपर्युक्त गद्याँश में 'परिणामों की परम्परा' और 'अभिप्राय की वासना' ये दो शब्द विचारणीय हैं।

**परिणामों की परम्परा :-** परिणामों की परम्परा से आशय उस मूल नियंत्रण बिन्दु से है, जो परिणामों को संचालित करता है। परम्परा का स्वरूप समझने के लिए हमें यह विचार करना चाहिए कि हमारे ये शुभाशुभ परिणाम क्यों हो रहे हैं ? उसका जो उत्तर आएगा वह परिणामों की परम्परा अर्थात् अभिप्राय की वासना को बताने वाला होगा। यदि कदाचित् उस उत्तर से अभिप्राय का स्वरूप स्पष्ट न हो, तो पुनःप्रश्न चिन्ह लगायें कि ऐसा क्यों हो रहा है ? इस प्रक्रिया को दो-चार बार अपनाने से परिणामों की परतों के नीचे छुपा अभिप्राय स्पष्ट होता चला जाएगा।

क्रिया, परिणाम और अभिप्राय में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता बताते समय पृष्ठ 34 पर उक्त प्रक्रिया को धन कमाने के उदाहरण से समझाया जा चुका है। यहाँ पुनः एक उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट की जा रही है।

मान लीजिए कोई व्यक्ति प्रतिदिन जिनेनद्र-पूजन करता है। इस सम्बन्ध में उससे पूछे गये प्रश्नोत्तरों का स्वरूप कुछ इसप्रकार होगा :-

प्रश्न :- आप प्रतिदिन पूजन क्यों करते हैं ?

उत्तर :- हमारा रोज पूजन करने का नियम है इसलिए करते हैं।

प्रश्न :- आपने यह नियम क्यों लिया ?

उत्तर :- हमारे पिताजी अन्तिम समय में कह गए थे कि यह मन्दिर/वेदी पूर्वजों ने बनवाई है, अतः यहाँ रोज पूजन करना ! इसीलिए हमने यह नियम लिया है।

प्रश्न :- क्या आप पूज्य और पूजा के स्वरूप में कुछ जानते है ?

उत्तर :- हमें यह जानने की फुरसत ही कहाँ है ? यह सब जानना तो आप जैसे पण्डितों का काम है। हम तो अपने नियम का ईमानदारी से पालन करते हैं।

उक्त प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट होता है कि वह व्यक्ति मात्र नियम-पालन

में ही सन्तुष्ट है। तत्त्व समझने से उसे कोई प्रयोजन नहीं है। यह सन्तुष्टि और अनध्यवसाय भाव ही उसका विपरीत अभिप्राय है।

उक्त प्रश्नोत्तरों का दूसरा रूप इसप्रकार भी हो सकता है :-

प्रश्न :- आप प्रतिदिन पूजन क्यों करते हैं ?

उत्तर :- पाप से बचने के लिए तथा पुण्य कमाने के लिए करते हैं।

प्रश्न :- आप पाप से क्यों बचना चाहते हैं और पुण्य क्यों कमाना चाहते हैं ?

उत्तर :- पाप के फल में नरकादि गतियों में दुःख भोगना पड़ता है, इसलिए हम उनसे बचना चाहते हैं; तथा पुण्य से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए हम पुण्य करना चाहते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि वह जीव प्रतिकूल संयोगों में दुःख तथा अनुकूल संयोगों में सुख और पुण्यभाव में धर्म मानता है। यह मान्यता ही अभिप्राय की विपरीतता है।

यदि सम्यग्यदृष्टि से यही प्रश्न पूछा जाए तो उनका उत्तर होगा – अर्हन्त भगवान पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हैं, उनके गुणगान के माध्यम से उनका समागम किए बिना मुझसे रहा नहीं जाता; क्योंकि उनके समागम से मुझे अपने स्वरूप की रुचि पुष्ट होती है। इसलिए मुझे उनके दर्शन-पूजन का भाव सहज ही आता है; आए बिना नहीं रहता।

ज्ञानी के उक्त उत्तर में उनकी स्वरूप की रुचि तथा शुभभाव का भी सहज ज्ञातृत्व (अकर्तृत्व) झलकता है; यही सम्यक् अभिप्राय है।

इसप्रकार यदि हम समस्त शुभाशुभ परिणामों की परम्परा का विचार करें तो उनके तल में पड़ी प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध में हमारी मान्यता स्पष्ट हो जाएगी और यही हमारा यथार्थ या अयथार्थ अभिप्राय होगा।

प्रश्न :- हमारा अभिप्राय यथार्थ है या अयथार्थ ? यह निर्णय कैसे हो सकेगा ?

उत्तर :- जिनागम में वर्णित वस्तु-स्वरूप की कसौटी पर कसकर परखने से हमें ज्ञात हो जाएगा कि हमारा अभिप्राय यथार्थ है या मिथ्या है। यदि हमारा अभिप्राय जिनागम प्रणीत वस्तु-स्वरूप के अनुसार हुआ तो वह यथार्थ होगा और यदि वस्तु-स्वरूप से विपरीत हुआ तो मिथ्या होगा।

अपने को शरीर और रागादि से भिन्न, उनका अकर्ता, तथा सहज ज्ञाता मानने वाला अभिप्राय सम्यक् है, यथार्थ है तथा इससे विपरीत अपने को शरीरादिमय मानने वाला अभिप्राय अयथार्थ अर्थात् मिथ्या है।

**अभिप्राय की वासना :-** यद्यपि अभिप्राय के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए इसके बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है; अभिप्राय को जानने-पहचानने की प्रक्रिया भी बताई जा चुकी है; तथापि पण्डितजी ने 'परिणामों की परम्परा' का विचार करने पर 'अभिप्राय की वासना' को न पहचानने की बात कही है, अतः इस शब्द के भाव को और अधिक गहराई से स्पष्ट किया जाना अपेक्षित है।

'अभिप्राय की वासना' का आशय हमारी विपरीत मान्यता से ही है। यद्यपि लोक में 'वासना' शब्द का प्रयोग मन की गहराइयों में पड़ी हुई भोगों की अभिलाषा को बताने के लिए किया जाता है, तथापि यहाँ 'वासना' शब्द का प्रयोग सातों तत्त्वों सम्बन्धी विपरीत मान्यता के अर्थ में करके पण्डितजी ने उसे अत्यन्त व्यापकता प्रदान की है।

प्रश्न :- यह कैसे सिद्ध होता है कि पण्डित टोडरमलजी ने 'अभिप्राय की वासना' शब्द का प्रयोग सातों तत्त्वों सम्बन्धी भूल के अर्थ में किया है?

उत्तर :- मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में पृष्ठ 243-248 तक द्रव्यलिंगी मुनि के अभिप्राय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डितजी ने उसके मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है, अतः यह बात स्वतः ही सिद्ध हो

जाती है। प्रसंगानुसार आगे भी इसका विशेष स्पष्टीकरण किया जाएगा।

'अभिप्राय की वासना' समझने के लिए निम्न उदाहरण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

एक व्यक्ति को मधुमेह (शुगर) की बीमारी हो गई। डॉक्टर द्वारा कड़ी चेतावनी दिये जाने पर उसने मिष्टान्न, मीठे फल आदि सब कुछ खाना बन्द कर दिया।

यद्यपि उसकी मिठाई खाने की क्रिया तो बन्द हो गई, तथापि पहले की आदत पड़ी थी, इसलिए उसकी मिठाई खाने की इच्छा जरूर होती थी; अर्थात् मिठाई खाने की क्रिया नहीं होती थी, परन्तु परिणाम (इच्छा) अवश्य होते थे।

घरवालों के बार-बार टोकने से तथा मृत्यु के भय से मिठाई न खाने से कुछ ही दिनों में मानों वह मिठाई का स्वाद ही भूल गया। अब मिठाई की याद भी नहीं आती, खाने की इच्छा और क्रिया की तो बात ही क्या करना ? अर्थात् अब मिठाई खाने की क्रिया और परिणाम दोनों बन्द हो गए।

एक बार वह किसी प्रीति-भोज में गया। जब उससे मिठाई खाने का आग्रह किया गया तब उसके दृढ़ता पूर्वक मना करने पर उससे पूछा गया कि क्या बात है, मिठाई पसन्द नहीं है क्या ? तब वह बोला– 'क्या बतायें भैया ! कभी हमारे भी ऐसे दिन थे कि कम से कम एक पाव मिठाई के बिना भोजन नहीं होता था, पर अब जान बचाने की मजबूरी है, इसलिए हमें मिठाई खाने का विचार भी नहीं आता'

जरा विचार करें ! मिठाई खाने की इच्छा बिल्कुल न होते हुए भी उस व्यक्ति को मिठाई पसन्द है या नहीं ? वह मिठाई खाने में आनन्द मानता है या नहीं ? मिठाई खाने में उसकी सुख-बुद्धि ही अभिप्राय की वासना है। यद्यपि वह मिठाई नहीं खाता, उसे मिठाई खाने का राग भी नहीं है,

परन्तु मिठाई खाने में सुख है – ऐसी मान्यता नहीं मिटी है, अर्थात् अभिप्राय में वासना विद्यमान है।

उपर्युक्त स्थिति मात्र शुगर वालों की या बीमार लोगों की ही होती है – ऐसा नहीं है। अनेक प्रसंगों में हम सबकी यही स्थिति होती है। जब हम भरपेट भोजन कर चुके होते हैं, तब हमारी भोजन करने की इच्छा बिल्कुल नहीं होती। यदि कोई बहुत जोर-जबर्दस्ती करके एक रसगुल्ला भी खिलाए तो हमें अत्यन्त कष्ट होता है, इसलिए हम विनम्रता पूर्वक मना कर देते हैं। ऐसी स्थिति में क्या हमें भोजन से द्वेष हो गया है ? क्या हम उस समय भी भोजन करने में सुख नहीं मानते ? अवश्य मानते हैं। हम भोजन करें या न करें; हमारी भोजन करने की इच्छा हो या न हो ? परन्तु भोजन में सुख है– हमारी यह मान्यता निरन्तर कायम रहती है। यही अभिप्राय की वासना है।

भोजन के समान ही पञ्चेन्द्रियों के समस्त विषयों में सुखबुद्धि तथा व्रत, शील, संयम आदि धर्माचरण में धर्मबुद्धि होने से हमारी यही स्थिति होती है।

## सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में परिणाम और अभिप्राय

यहाँ विषय-भोगों की क्रिया और परिणाम के सन्दर्भ में अभिप्राय की चर्चा करने का प्रकरण नहीं है; यहाँ तो जिसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है, ऐसी क्रिया और तदनुकूल मन्दकषायरूप परिणामों के पीछे अभिप्राय की वासना का विश्लेषण करने का प्रकरण है; क्योंकि इसी के कारण यह जीव पञ्च महाव्रतों का निर्दोष आचरण एवं तदनुसार महामन्दकषायरूप परिणाम होने पर भी मिथ्यादृष्टि ही रहता है, मोक्षमार्गी नहीं हो पाता।

यदि हमें संसार के दुःखों से छूटने की गहरी तड़फ है, शाश्वत अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने की गहरी लगन है, तो हमें अभिप्राय की वासना अर्थात् मिथ्या मान्यताओं का स्वरूप समझकर यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान के द्वारा उनका समूल क्षय अवश्य करना चाहिए। यथार्थ तत्त्व-

श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होने पर ही सम्यक्चारित्र होता है और उसकी पूर्णता होने पर ही मुक्ति होती है।

पण्डित टोडरमलजी ने सम्यक्चारित्र के लिए व्यवहाराभासियों द्वारा किए गए प्रयत्नों में विपरीतता का वर्णन करते हुए निम्न दो प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण किया है :-

(अ) जब क्रिया तो सम्यक्चारित्र जैसी हो, परन्तु परिणामों में विषय-कषाय का सद्भाव हो अर्थात् शुभभाव भी न हों, तथा अभिप्राय में भी विपरीतता हो।

(ब) जब क्रिया तो शास्त्रोक्त हो अर्थात् अणुव्रत-महाव्रतादिक का निर्दोष पालन हो और परिणाम भी उस क्रिया के अनुरूप महामन्दकषायरूप हों; परन्तु अभिप्राय में परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि तथा विषयों में सुखबुद्धि हो।

यहाँ उक्त दोनों परिस्थितियों का विश्लेषण सातवें अधिकार के व्यवहाराभासी प्रकरण में किए गए "सम्यक्चारित्र के अन्यथा स्वरूप" के विवेचन के आधार पर किया जा रहा है।

## परिणामों और अभिप्राय की विपरीतता

यहाँ परिणामों की विपरीतता से आशय क्रिया में होने वाले शुभाचरण से विपरीत अज्ञान और कषायरूप परिणामों से है। इस परिस्थिति का चित्रण करते हुए पण्डितजी पृष्ठ 238 पर लिखते हैं :-

**"वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रम से अथवा देखा-देखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिक से आचरण करते हैं; उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँ से हो ? उन जीवों में कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषाय होने पर सम्यक्चारित्र नहीं होता"**

उक्त गद्यांश में 'कुलक्रम से अथवा देखा-देखी' शब्द के द्वारा अभिप्राय की ओर तथा 'आचरण करते हैं'– ऐसा कहकर धर्म-क्रिया की ओर संकेत किया गया है। ऐसे जीव धर्माचरण करते हैं अर्थात् चारित्र कही जाने वाली क्रिया तो करते हैं, परन्तु उन्हें अज्ञान और कषाय विद्यमान है। अज्ञान अर्थात् विपरीत अभिप्राय और कषाय अर्थात् विपरीत परिणाम होने से क्रिया होने पर भी उन्हें चारित्र नहीं होता।

ऐसे लोग मात्र क्रिया के आग्रही होने से जैसे-तैसे क्रिया की प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं और उनके परिणाम दुःखी हो जाते हैं। जैसे– कोई जीव उपवास की प्रतिज्ञा करता है। प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए उसके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं– इसका चित्रण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं :-

**"कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं; परन्तु अन्तरंग में विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिए जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे– कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दुःखी हुआ रोगी की भाँति काल गँवाता है, धर्म-साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न ले ? दुःखी होने में आर्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा"?**

ऐसे लोग अपनी पीड़ा दूर करने के लिए विषय-पोषण के अनेक उपाय करते हैं। जैसे– प्यास लगने पर पानी नहीं पियेंगे, परन्तु बर्फ की पट्टी रखेंगे। भोजन में घी नहीं खायेंगे तो दूसरे चिकने पदार्थों का सेवन करेंगे। उन लोगों की दशा यहाँ तक हो जाती है कि एक धर्म-क्रिया की पूर्ति के लिए वे दूसरी पाप-क्रियायें भी करने लगते हैं। पडिण्तजी ने निम्न पंक्तियों में उनका मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा है :-

**"अथवा प्रतिज्ञा में दुःख हो तब परिणाम लगाने के लिए कोई आलम्बन विचारता है। जैसे– उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है,**

कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसन में लग जाते हैं, अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना। –इसीप्रकार अन्य प्रतिज्ञा में जानना''।

''अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं कि पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बाद में उससे दुःखी हों तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना-छोड़ना उनको खेल मात्र है; सो प्रतिज्ञा भंग करने का महापाप है; इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है''।

इसप्रकार अज्ञानी जीवों द्वारा किसी एक धर्म-क्रिया के पालन के लिए परिणामों में आर्तध्यान, विषय-कषाय की तीव्रता तथा अन्य अनेक पाप-क्रियायें भी की जाती हैं।

आखिर ऐसा क्यों होता है ? परिणामों में इतनी विकृति क्यों हो जाती है ? इसका कारण यह है कि वे सम्यक्चारित्र का सच्चा स्वरूप तो जानते नहीं और मात्र क्रिया में धर्म मानते हैं। वे समझते हैं कि जानने में क्या रखा है ? कुछ करेंगे तो फल लगेगा। इसलिए वे तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते और व्रत-तप आदि क्रिया का ही प्रयत्न करते हैं। उनके अभिप्राय की इस विपरीतता के कारण ही उनके परिणामों की ऐसी दशा हो जाती है। उनके ऐसे ही अनेक प्रकार के परिणामों का चित्रण पण्डितजी ने पृष्ठ 238-240 पर किया है; जिसका सार निम्नानुसार है :-

(1) अन्तरंग में विरक्ति न होने से वे प्रतिज्ञा के पहले और बाद में उस विषय का अति-आसक्ति पूर्वक सेवन करते हैं। जैसे– उपवास के पहले और बाद मे अति-लोभी होकर गरिष्ठ भोजनादि करते हैं। जैसे किसी स्थान पर रोके हुए जल को पुनः छोड़ने से वह तेज प्रवाह से बहता है– ऐसी दशा उनके परिणामों की हो जाती है।

(2) वे कभी तो बड़ा धर्माचरण करते हैं और कभी बहुत स्वच्छन्दी होकर प्रवर्तन करते हैं। जैसे– किसी धर्म-पर्व में बहुत उपवासादि

**करते हैं और किसी धर्म-पर्व में बार-बार भोजनादिक करते हैं। भाद्रपद के दशलक्षण में, भक्ति, पूजन आदि बहुत करते हैं, परन्तु माघ तथा चैत्र के दशलक्षण एवं अष्टाह्निका आदि पर्वों मे अनर्गल प्रवृत्ति करते हैं।**

**(3) वे कोई क्रिया बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं और कोई क्रिया हीन करते हैं। जैसे– धनादिक का त्याग कर देते हैं, परन्तु स्वादिष्ट भोजन करते हैं; तथा आकर्षक वस्त्रादि पहनते हैं अथवा स्त्रीसेवनादिक का त्याग करके भी खोटे व्यापारादि लोक-निंद्य कार्य करते हैं।**

ऐसे लोगों को अविवेकी घोषित करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि उन्हें सम्यक्चारित्र का आभास भी नहीं होता।

क्रिया और परिणामों का सन्तुलन रागादि दूर होने पर ही हो सकता है। पण्डितजी ने इस संतुलित स्थिति का चित्रण पृष्ठ 240 पर किया है, जिसका उल्लेख पूर्व में भी किया जा चुका है :–

**"सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादि दूर हुए हों, उसके अनुसार जिस पद में जो धर्म-क्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे; परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।"**

प्रश्न :- क्रिया और परिणाम का ऐसा सन्तुलन किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर :- वास्तव में अभिप्राय की विपरीतता मिटने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर भूमिका के अनुसार परिणाम और क्रिया सहज होते हैं। मन्द कषायी मिथ्यादृष्टि जीव को भी कषायों की मन्दता होने से तदनुकूल बाह्य-क्रिया भी सहज होती है। इसप्रकार यथार्थ अभिप्राय के निमित्त से परिणामों में आँशिक शुद्धि तथा मन्दकषायरूप परिणामों के निमित्ति से क्रिया भी धर्माचरणरूप हो जाती है। यद्यपि ये तीनों स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष हैं; तथापि इनमें ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी सहज होता है।

मन्दकषाय के निमित्त से व्रतादिरूप क्रिया होने पर भी अभिप्राय की सूक्ष्मभूल का निरूपण करते हुए पण्डितजी पृष्ठ 249 पर लिखतें हैं :-

**''तथा कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं और आचरण के अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिक का अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्ष के अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिक के भोगों की भी इच्छा नहीं रखते; परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ, इसलिए आप तो जानते भी नहीं, केवल स्वर्गादिक ही का साधन करते हैं। कोई मिसरी को अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे अमृत का गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीति के अनुसार फल नहीं होता, फल तो जैसे साधन करे वैसा ही लगता है।''**

उक्त गद्यांश में क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की स्थिति निम्नानुसार व्यक्त की गई है।

**क्रिया :-** अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं।

**परिणाम :-** आचरण के अनुसार परिणाम है; माया लोभादिक का अभिप्राय (भाव) नहीं है, स्वर्गादिक के भोगों की इच्छा भी नहीं हैं।

**अभिप्राय :-** उन्हें धर्म जानकर मोक्ष के लिए उनका साधन करते हैं, आप तो जानते है कि मैं मोक्ष का साधन कर रहा हूँ; परन्तु जो मोक्ष का साधन है, उसे जानते भी नहीं।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि की बात है। चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिङ्गियों की बात नहीं है। द्रव्यलिङ्गी और मिथ्यादृष्टि पर्यायवाची नहीं हैं। इनमें बहुत अन्तर है। द्रव्यलिङ्ग तो जीव की अणुव्रत-महाव्रतादिरूप बाह्य-क्रिया है, जो व्यवहार चारित्र होने से व्यवहार से पूज्य है और मिथ्यात्व तो जीव की विपरीत मान्यता होने से निन्द्य है, त्याज्य है । अतः 'द्रव्यलिङ्गी

अर्थात् मिथ्यादृष्टि'– यह भ्रान्ति नहीं रखना चाहिए। यहाँ द्रव्यलिङ्ग धारण करने पर भी जो प्रथम गुणस्थानवर्ती हैं, उनके विपरीत अभिप्राय की समीक्षा की जा रही है। मन्दकषाय होने पर अणुव्रत-महाव्रतादि के परिणाम और तदनुकूल आचरण भी होता है।

वास्तव में देखा जाए तो उक्त स्थिति बनने के कारण ही इस विषय को गहराई से समझने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न होता अर्थात् विपरीत अभिप्राय के साथ पापरूप परिणाम और पाप-क्रिया ही होते तथा सम्यक् अभिप्राय के साथ वीतरागभाव और वीतरागी क्रिया (ध्यानस्थ मुद्रा) ही होती तो अभिप्राय की भूल भी क्रिया और परिणामों के माध्यम से ही समझ में आ जाती; उसे समझना इतना दुर्लभ न होता।

व्रतादिरूप क्रिया और तदनुसार परिणामों की उत्कृष्ट स्थिति होने पर यह जीव इकतीस सागर की आयु बाँधकर अन्तिम ग्रैवेयक तक चला जाता है। यह अन्तरंग परिणाम पूर्वक महाव्रतादि पालता है, महामन्दकषायी होता है; उसे इहलोक-परलोक के भोगादिक की चाह नहीं होती, वह मात्र मोक्षभिलाषी होता है और केवल धर्मबुद्धि से धर्म-साधन करता है। ऐसे जीव को शास्त्रों में द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि कहा है। उसके अभिप्राय की ओर संकेत करते हुए पण्डित टोडरमलजी पृष्ठ 243 पर लिखते हैं :-

**"...... इसलिए द्रव्यलिंगी के स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है; सो सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।"**

प्रश्न :- जब द्रव्यलिङ्गी के अभिप्राय का सूक्ष्म अन्यथापना सम्यग्दृष्टि को भासित होता है तो आप उसके अभिप्राय की भूलों का विश्लेषण कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर :- भाई ! हम किसी व्यक्ति के बारे में कहें कि यह द्रव्यलिङ्गी है, और उसके अभिप्राय में यह भूल है तो आपका कहना बिल्कुल ठीक है;

परन्तु हम तो पण्डित टोडरमलजी के कथनानुसार सामान्य द्रव्यलिंगी का विवेचन कर रहे हैं। उन्होंने भी जिनवाणी के आधार पर लिखा है। यदि आप उन पर प्रश्नचिन्ह लगाना उचित समझें तो यह आपके विवेक पर निर्भर है।

अभिप्राय की भूल निकल जाने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन हो जाने पर प्रत्याख्यान कषाय के उदय में भी मन्दकषाय के निमित्त से अणुव्रत या महाव्रतरूप आचरण भी होता है। ऐसे जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी श्रावक या मुनि अथवा पञ्चम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि कहलाते हैं। जिनकी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषायें नष्ट हो जाती हैं, उन्हें भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनों होते हैं।

प्रश्न :– चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को अपने परिणामों की शुद्धता और रागाँश का ख्याल तो रहता है, फिर वह छठवें-सातवें गुणस्थान योग्य परिणाम न होने पर भी वैसी क्रिया कैसे कर सकता है ?

उत्तर :– कदाचित् महामन्दकषाय में ऐसा सम्भव हो सकता है। पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों में अनेक बार चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिङ्गी की चर्चा आती है। यदि कोई जीव ग्यारहवें आदि गुणस्थान से गिरकर पाँचवे या चौथे गुणस्थान में आ जाए तो वह पञ्चम या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिङ्गी ही कहा जाएगा। अतः ऊपर के गुणस्थान से गिरने पर यह स्थिति होना सहज सम्भव है।[1]

यहाँ हमें अभिप्राय की भूल समझना है, इसलिए प्रथम गुणस्थानवर्ती अर्थात् द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि की चर्चा की जाएगी। वर्तमान वातावरण कुछ ऐसा विचित्र है कि द्रव्यलिंगी का नाम लेते ही लोगों को ऐसा भ्रम हो

1. आगम दर्शन धरियावद से 1996 में प्रकाशित एवं नीरज जैन सतना द्वारा सम्पादित मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 179-180 पर त्रिलोकसार, धवला आदि के आधार पर पहले से पाँचवे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनियों का उल्लेख किया गया है।

जाता है कि मुनि-निन्दा की जा रही है; जबकि हमारा उद्देश्य आगम के आधार पर अभिप्राय की भूल का तात्त्विक विश्लेषण करना ही है। मुनि की निन्दा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि चरणानुयोग में बाह्य-क्रिया की प्रधानता होने से भावलिंग रहित द्रव्यलिंग भी वन्दनीय कहा गया है। वह मोक्षमार्गी है या नहीं ? यह द्रव्यानुयोग का प्रकरण है, चरणानुयोग का नहीं। हमारी मनोवृत्ति भी कुछ ऐसी हो गई है कि शास्त्रों में जहाँ भी द्रव्यलिंगी की चर्चा आती है, हमारा ध्यान दूसरों की ओर ही जाता है। जब हम छहढाला में निम्न पंक्तियाँ पढ़ते हैं :-

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।**
**पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥**

तब हमें ऐसा लगता है कि यह तो दूसरों की बात है, हम तो बहुत समझदार हैं, इसलिए हम मुनि नहीं हुए, जबकि हमारी यह धारणा स्पष्टतः आगम-विरुद्ध और आत्महित में बाधक है।

जरा विचार तो कीजिए कि उक्त पंक्तियों में मुनि-निन्दा या मुनि होने का निषेध है या आत्मज्ञान न होने की आलोचना की गई है। वास्तव में हमें इन पंक्तियों में दूसरों का वर्तमान देखने के बजाए अपना भूतकाल देखना चाहिए। पिछले अनन्तभवों में अनन्तबार आत्मज्ञान के बिना मुनिव्रत धारण करने पर भी हमें लेशमात्र भी सुख नहीं मिला। इन पंक्तियों में अज्ञान की निन्दा की गई है और अज्ञान सहित मुनिपद को व्यर्थ बताया गया है। जैन-शासन में तो शाश्वत वस्तु-व्यवस्था बताई गई है कि मुनि हुए बिना मुक्ति की साधना पूर्ण नहीं होती।

यदि हम सच्चे आत्मार्थी हैं तो हमें जिनागम में बताए गए प्रत्येक दोष को अपने ऊपर घटित करना चाहिए। दूसरों के दोष नहीं देखना चाहिए। दूसरों के दोष देखने की दूषित वृत्ति के कारण ही हम अनन्तबार समवसरण

में जाकर भी कोरे के कोरे वापिस आ गए। अतः मेरी भावना में कवि ने यही भावना भाई है –

**"गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे"।**

प्रश्न :- यदि द्रव्यलिंगी की चर्चा करने से लोगों को मुनि-निन्दा का भ्रम होता है, तो आप द्रव्यलिंगी की चर्चा क्यों छेड़ते हैं, कोई दूसरा उदाहरण लेकर भी अपनी बात कह सकते हैं ?

उत्तर :- भाई ! यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के सन्दर्भ में ही अभिप्राय की भूल स्पष्ट हो सकती है, क्योंकि उसकी क्रिया और परिणाम महाव्रतादिरूप हैं, फिर भी उसे मोक्षमार्ग नहीं होता। अतः अभिप्राय की भूल का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। जो विषय-भोगों की क्रियाओं और परिणाामों में ही उलझे हैं, उनकी तो स्थूल भूलें ही दिख रही हैं। उनके क्रिया और परिणाम के परदे ही मैले हैं। जिसके क्रिया और परिणाम के परदे पारदर्शी हैं उसी का अभिप्राय वाला परदा दिखेगा। यही कारण है कि अभिप्राय की भूल समझने के लिए द्रव्यलिंगी मुनि की चर्चा की जाती है।

उपर्युक्त द्रव्यलिंगी के अभिप्राय की सूक्ष्म विपरीतता का संकेत करते हुए पण्डित टोडरमलजी पृष्ठ 243 पर लिखते हैं :-

**"प्रथम तो संसार में नरकादि के दुःख जानकर व स्वर्गादि में भी जन्म-मरणादि के दुःख जानकर, संसार से उदास होकर मोक्ष को चाहते हैं। सो इन दुःखों को तो दुःख सभी जानते हैं। इन्द्र-अहमिन्द्रादिक विषयानुराग से इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल सुख अवस्था को पहिचानकर मोक्ष को चाहते हैं; वे ही सम्यग्दृष्टि जानना।**

तथा विषयसुखादिक का फल नरकादिक है; शरीर अशुचि, विनाशीक है पोषण योग्य नहीं है; कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं; इत्यादि परद्रव्यों का दोष विचार कर उनका तो त्याग करते हैं– और व्रतादिक का फल स्वर्ग-मोक्ष है; तपश्चरणादि पवित्र अविनाशी फल के दाता हैं, उनके द्वारा शरीर का शोषण करने योग्य है; देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं– इत्यादि प्ररद्रव्यों के गुणों का विचार करके उन्हीं को अंगीकार करते हैं– इत्यादि प्रकार से किसी परद्रव्य को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं, किसी परद्रव्य को भला जानकर इष्ट श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान सो मिथ्या है।

तथा इसी श्रद्धान से इनके उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है; क्योंकि किसी को बुरा जानना उसी का नाम द्वेष है।''

उक्त गद्याँश में मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि तथा सम्यग्दृष्टि इन्द्र-अहमिन्द्र के क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का तुलनात्मक विवेचन किया गया है, जिससे इन दोनों के अभिप्राय का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन दोना में एक क्रिया और परिणामों से महाव्रती होते हुए भी विपरीत अभिप्राय सहित है और दूसरा क्रिया और परिणामों से अव्रती होते हुए भी यथार्थ अभिप्रायवाला है।

इन्द्र अथवा चक्रवर्ती आदि ज्ञानी जीवों को अव्रत की भूमिका में प्रचुर भोगों की क्रिया और परिणाम होने पर भी अभिप्राय में भोगों में सुख बुद्धि नहीं है, अतः वे मोक्षमार्गी हैं। इसी अभिप्राय की मुख्यता से ही ज्ञानी के भोगों को भी निर्जरा का कारण कहा जाता है। 'भरतजी घर में वैरागी' जैसी उक्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। कविवर दौलतरामजी विरचित भजन 'चिन्मूरत दृगधारिन की मोहे रीति लगत है अटापटी'– भी ज्ञानियों के निर्मल अभिप्राय का चित्रण करता है।

मिथ्यादृष्टि महाव्रती और सम्यग्दृष्टि अविरती की क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का अन्तर निम्न तालिका द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है।

| प्रकरण | मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि | अव्रत सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र |
|---|---|---|
| क्रिया | महाव्रतादिरूप आचरण करते हैं। | इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं। |
| परिणाम | संसार से उदास हैं। | विषयानुरागी हैं। |
| अभिप्राय | | |
| (1) | नरकादि के प्रतिकूल-संयोगों को दुःख का कारण जानते हैं। | परद्रव्यों को दुःख का कारण नहीं मानते। |
| (2) | विषय-सुखों को नरकादि का कारण जानकर छोड़ते हैं। | विषयसुख को भी दुःख जान कर निराकुल सुख को चाहते हैं। |
| (3) | शरीर तथा कुटुम्ब आदि को बुरा जानकर उनका त्याग करते हैं। | परद्रव्यों को बुरा नहीं जानते, अपने रागभाव को बुरा जानते हैं |
| (4) | व्रतादि को स्वर्ग-मोक्ष का कारण मानते हैं। | व्रतादि क्रिया को मोक्ष का कारण नहीं मानते। रागभाव छूटने से उसके कारणों का त्याग सहज हो जाता है। |
| (5) | देव-गुरु-शास्त्रादि परद्रव्यों को भला जानकर उन्हें अंगीकार करते हैं। | किसी परद्रव्य को भला नहीं जानते। स्व को स्व और पर को पर जानते हैं। पर से कुछ भी प्रयोजन न जानकर उसके साक्षी रहते हैं। |

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय का अन्तर अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। अज्ञानी के अभिप्राय में मूल में भूल यही है कि उसके परिणाम संसार से उदासीनरूप होते हैं, फिर भी अभिप्राय में द्वेष होने से उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है।

द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के अभिप्राय की भूल का विस्तृत स्पष्टीकरण मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 243 से 249 तक किया गया है, जिसका सार यहाँ दिया जा रहा है :-

(1) पहले स्वयं को शरीराश्रित पाप-कार्यों का कर्ता मानता था। जैसे–'मैं जीवों को मारता हूँ, परिग्रहधारी हूँ'– ऐसा मानता था और अब अपने को शरीराश्रित पुण्य कार्यों का कर्ता मानने लगा अर्थात् 'मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, मैं नग्न हूँ'– ऐसा मानता है। वस्तुतः अपने को शरीराश्रित पाप-पुण्य क्रियाओं का कर्ता मानना मिथ्यात्व है।

(2) मुनिधर्म की क्रियाओं में प्रवृत्ति के भाव रागरूप हैं और वह इस शुभराग को मोक्षमार्ग मानता है; जबकि मोक्षमार्ग तो वीतरागभावरूप है। रागभाव को मोक्षमार्ग मानना मिथ्यात्व है। शुभराग, चारित्र का स्वरूप नहीं है, अपितु चारित्र का दोष है, तथ उसे धर्म मानना श्रद्धा का दोष है।

(3) निर्ग्रन्थ दशा अंगीकार करने पर भी, उग्र तप करने पर भी, बाईस परिषह सहने पर भी शास्त्रों में उसे मिथ्यादृष्टि और असंयमी कहा गया है; क्योंकि उसे तत्त्वों का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान नहीं हुआ है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 225 से 238 तक सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप प्रकरण के अन्तर्गत सात तत्त्व सम्बन्धी भूलों का जैसा वर्णन किया गया है, वैसी ही विपरीतता उसके श्रद्धान-ज्ञान में पाई जाती है। इसी विपरीत अभिप्राय पूर्वक वह धर्मसाधन करता है, इन साधनों के अभिप्राय की परम्परा का विचार करने पर कषायों का अभिप्राय आता है।

**धर्म-साधनों की परम्परा में कषाय का अभिप्राय :-** अज्ञानी के धर्म-साधनों की परम्परा में कषायों का अभिप्राय किसप्रकार आता है –

इसका स्पष्टीकरण निम्नानुसार है :-

**(अ) शुभराग में उपादेय बुद्धि :-** वह अशुभराग को हेय जानकर छोड़ता है और शुभराग को उपादेय मानकर उसकी वृद्धि का उपाय करता है। शुभराग भी कषाय है, अतः उसने कषाय को उपादेय माना, इसलिए उसे कषाय करने का ही श्रद्धान रहा। अशुभ-निमित्त से द्वेष करने का तथा शुभ-निमित्तों से राग करने का अभिप्राय रहा; परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं रहा।

**(ब) उपसर्ग-परीषह सहन करने में भय और लोभ :-** उपसर्ग और परीषह सहने में तथा तप करने में दुःख का वेदन करता है; परन्तु दुःख का वेदन करना भी कषाय है। वह कषाय के अभिप्रायरूप विचार से दुःख सहता है। ये विचार निम्नानुसार होते है :-

"....हे जीव ! तूने नरकादि गति में पराधीनता से बहुत दुःख सहन किये, यह परीषहादिक का दुःख तो बहुत थोड़ा है। इसको स्वाधीन होकर सहने से स्वर्ग-मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। यदि यह दुःख न सहेगा और विषय-सुख का सेवन करेगा तो तुझे नरकादिक की प्राप्ति होगी, वहाँ बहुत दुःख होगा।"

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह परिषहों को दुःखदायक मानता है। मात्र नरकादिक के भय तथा स्वर्ग-सुख के लोभ से उन्हें सहन करता है। ये भय और लोभ भी कषाय ही हैं।

उक्त विचारों के साथ-साथ उसके निम्न विचार भी होते हैं :-

".... मैंने पूर्व में जो कर्म बाँधे थे, वे भोगे बिना नहीं छूट सकते; अतः मुझे उन्हीं का फल भोगना पड़ रहा है। देखो ! कर्मों ने तो आदिनाथ और पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ा। उन्हें भी कर्मों का फल भोगना ही पड़ा। अतः मुझे भी समताभाव पूर्वक कर्मों का फल भोग लेना चाहिए।"

उपर्युक्त विचारों के रूप में वह कर्मफलचेतनारूप प्रवर्तन करता है।

प्रश्न :- उपर्युक्त विचार करने में भूल क्या है ? क्या ज्ञानी ऐसा विचार नहीं करते ?

उत्तर :- यहाँ मात्र विचारों की बात नहीं चल रही है; अपितु विचारों की परतों के तल में बैठे हुए अभिप्राय की बात चल रही है। परिणामों को स्वरूप में स्थिर करने के लिए कदाचित् ज्ञानियों को भी ऐसे विचार हो सकते हैं, परन्तु वे इन विचारों की अपेक्षा को भी जानते हैं।

उक्त विचारों के पीछे अज्ञानी और ज्ञानी के अभिप्राय को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है :-

| विचार | अज्ञानी का अभिप्राय | ज्ञानी का अभिप्राय |
|---|---|---|
| व्रत-शील-संयम आदि धारण करना चाहिए। | ये मुक्ति के मार्ग हैं। | यद्यपि ये मुक्ति के कारण नहीं हैं, तथापि पाप से बचने के लिए ये भाव आए बिना नहीं रहते। |
| उपसर्ग और परिषह सहन करने योग्य हैं। | यदि इन्हें सहन नहीं करेंगे तो नरक जाना पड़ेगा, तथा इन्हें सहन करने पर स्वर्ग/मोक्ष की प्राप्ति होगी। | यह बाह्य-संयोग दुःख का कारण नहीं है। राग दुःख का कारण है, अतः आत्मा में स्थिर होकर राग का अभाव करना चाहिए। |
| पहले बाँधे हुए कर्म शान्तिपूर्वक भोगना चाहिए। | मैं कर्मों के फल को भोगने वाला हूँ। | मैं परद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मात्र ज्ञाता हूँ। |
| विषय-भोगादि त्याग करने योग्य हैं। | विषयों के सेवन में आनन्द तो है, परन्तु इनके सेवन से नरक में जाना पड़ेगा, अतः इनका त्याग करना योग्य है। | विषयसेवन में सुख नहीं, दुःख ही है।आत्मा के अवलम्बन से ही सच्चा सुख प्रगट होता है। अतः आत्मा की रुचि होने से विषय की रुचि ही नहीं है। |

**प्रश्न :-** उक्त तालिका से ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर समझ में आ गया। कृपया मिथ्यादृष्टि से लेकर सिद्धभगवान तक विभिन्न भूमिकाओं को क्रिया परिणाम और अभिप्राय के सन्दर्भ में स्पष्ट करें।

84

**उत्तर :-** निम्न तालिका द्वारा अनादि मिथ्यादृष्टि से सिद्धदशा तक की विभिन्न अवस्थाओं को क्रिया, परिणाम और अभिप्राय के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है।

| भूमिका | क्रिया | परिणाम | अभिप्राय |
|---|---|---|---|
| अनादि मिथ्यादृष्टि | पञ्चेन्द्रिय के भोग एवं भक्ति, दया दान व्रतादि सभी प्रकार की अशुभ एवं शुभक्रिया। | मिथ्यात्व की भूमिका में होने योग्य सभी प्रकार के भाव अर्थात् षट् लेश्या रूप परिणाम। | जीवादि प्रयाजनभूत तत्त्वों के बारे में विपरीत श्रद्धान। |
| मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि | पञ्च महाव्रत रूप आचरण | क्रिया के अनुरूप महामन्द कषाय रूप परिणाम। | बाह्य क्रिया और शुभरागरूप क्रियाओं में कर्तृत्त्वबुद्धि एवं धर्मबुद्धि। |
| सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि | धन्धा-व्यापार, विषय भोग आदि क्रियाओं के साथ-साथ जिनेन्द्र दर्शन, पूजन, स्वाध्याय सदाचरण आदि क्रियाओं की मुख्यता। (मनुष्यगतिकेअपेक्षा) | विषय-कषाय के परिणामों के साथ-साथ तत्त्व निर्णय, भाव-भासन आदि के परिणाम। | दर्शनमोह की मन्दता के निमित्त से स्वरूप की रुचि, महिमा एवं स्वसन्मुखता के प्रयत्न से स्वभाव की ओर ढलता हुआ अभिप्राय तथा गलता हुआ मिथ्यात्व। |

| भूमिका | क्रिया | परिणाम | अभिप्राय |
|---|---|---|---|
| अव्रती श्रावक | विषयभोगादि तथा भक्ति दया-दान आदि रूप क्रिया | विषयासक्ति आदि अशुभ एवं भक्ति, दया दान आदि शुभ परिणाम एवं अनन्तानुबन्धी के अभावरूप वीतरागता। | रंगराग और भेद से भिन्न ज्ञायकस्वभाव में अहं तथा सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति। |
| व्रती श्रावक | अणुव्रतादिरूप क्रिया | अणुव्रतादि रूप शुभभाव एवं दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागता | अणुव्रतादि की क्रिया और शुभभाव का भी अकर्तृत्त्व |
| भावलिङ्गी मुनिराज | पञ्च महाव्रतरूप आचरण | महाव्रतादि रूप शुभभाव एवं तीन कषाय के अभाव रूप वीतरागता। | महाव्रतादि रूप क्रिया एवं शुभभाव का भी अकर्तृत्त्व। |
| अर्हन्त भगवान | आसन, विहार, धर्मोपदेश आदि क्रिया। | अनन्तज्ञान, दर्शन सुख और वीर्यादि पूर्ण निर्मल परिणाम | परमावगाढ़ सम्यक्त्वरूप दृढ़ प्रतीति |
| सिद्ध भगवान | अयोगी दशा होने से क्रिया रहित। | पूर्ववत् | पूर्ववत् |

**(स) विषयसेवन में इष्टबुद्धि :-** जिसप्रकार दाहज्वरवाला वायुरोग होने के भय से शीतल वस्तुओं का सेवन तो नहीं करता, परन्तु उसे शीतल वस्तुओं का सेवन करना अच्छा लगता है। शीतल वस्तुओं के प्रति उसकी रुचि ही उसके दाहज्वर को सिद्ध करती है। उसीप्रकार रागी-जीव नरकादि के भय से विषय-सेवन नहीं करता, परन्तु उसे विषय-सेवन करना अच्छा लगता है, अतः यह सिद्ध होता है कि उसके अभिप्राय में विषय-सेवन का राग विद्यमान है।

प्रश्न :- तो विषय-सेवन के प्रति ज्ञानी का अभिप्राय कैसा होता है?

उत्तर :-जिसप्रकार अमृत का स्वाद लेने वाले देव को अन्य भोजन करने की रुचि स्वयमेव नहीं होती, उसीप्रकार निज चैतन्यरस का स्वाद लेने वाले ज्ञानी को विषयों की रुचि स्वयमेव नहीं होती। अज्ञानी को विषयों के प्रति ऐसी अरुचि नहीं होती।

**(द) परीषहादि में अनिष्टबुद्धि :-** अज्ञानी जीव विषय-सेवन के काल में सुख और उसके फल में भविष्य में नरकादिक का दुःख मानता है तथा परिषह आदि सहन करते समय दुःख और भविष्य में उसके फल में स्वर्गादिक का सुख मानता है। इसप्रकार उसे परद्रव्य में सुख-दुःख मानने के कारण उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि से राग-द्वेषरूप अभिप्राय बना रहता है।

इसके विपरीत ज्ञानी-जीव विषय-सेवन के भाव को ही दुःखरूप जानकर उसे छोड़ना चाहते हैं, अतः उन्हें विषय-सामग्री में इष्टबुद्धि नहीं है; तथा वे परीषह आदि को मात्र बाह्य-संयोग जानते हैं, उन्हें दुःखदायक नहीं मानते जानते हैं, अतः उनमें अनिष्टबुद्धि नहीं है। वे उपसर्ग-परीषह के काल में भी अपने को परद्रव्यों से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्धात्मा के रूप में अनुभव करते हैं।

इसप्रकार द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि की क्रिया और परिणामों के सन्दर्भ में उसके अभिप्राय की विपरीतता को स्पष्ट किया गया है। अभिप्राय

में विपरीतता सहित महाव्रतादिरूप आचरण होने पर भी उसे अणुव्रती तथा अविरत-सम्यग्दृष्टि से भी हीन कहा है, क्योंकि उनका पाँचवा और चौथा गुणस्थान है और इसका पहला गुणस्थान है।

यहाँ यदि परिणामों की अपेक्षा विचार किया जाए तो द्रव्यलिंगी मुनि को कषायों की प्रवृत्ति थोड़ी है, तथा अविरति और देशव्रती को कषायों की प्रवृत्ति अधिक है। यही कारण है कि द्रव्यलिंगी मुनि नवमें ग्रैवेयक तक जाते है; जबकि अविरति और देशव्रती सोलहवें स्वर्ग तक ही जाते हैं।

द्रव्यलिंगी को महामन्द-कषाय तथा अव्रत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती को उसकी अपेक्षा तीव्र-कषाय होने पर भी उसे इन दोनों से भी हीन बताया गया है; क्योंकि कषायों की प्रवृत्ति होने पर भी सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में किसी भी कषाय को करने का अभिप्राय नहीं है; जबकि द्रव्यलिंगी को शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है और वह श्रद्धान में उन्हें भला जानता है। इसलिए श्रद्धान की अपेक्षा इसे असंयत-सम्यग्दृष्टि से भी अधिक कषाय है।

प्रश्न :- यदि द्रव्यलिंगी को कषाय करने का अभिप्राय है तो वह नवमें ग्रैवेयक तक कैसे जाता है ?

उत्तर :- पुण्य और पाप का भेद अघातिकर्मों में होता है, तथा शुभ या अशुभ योग के अनुसार पुण्य या पाप का बन्ध होता है। द्रव्यलिंगी को शुभरूप योगों की प्रवृत्ति बहुत होती है, इसलिए वह अन्तिम ग्रैवेयक तक भी चला जाता है; परन्तु उससे उसे कोई लाभ नही होता; क्योंकि अघातियाकर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं। गोत्रकर्म के उदय से उच्चपद या नीचपद प्राप्त किया तो क्या हुआ ? वे तो मात्र बाह्य-संयोग हैं, संसारदशा के स्वांग हैं; अतः आत्मा को इनमे कोई लाभ-हानि नहीं हैं।

प्रश्न :- घाति कर्म तो आत्मगुणों के घात में निमित्त हैं, द्रव्यलिंगी मुनि को उनका बन्ध किसप्रकार होता है ?

उत्तर :- घातिया कर्मों का बन्ध बाह्य-प्रवृत्ति के अनुसार नहीं होता, अन्तरंग कषाय शक्ति के अनुसार होता है। इसलिए द्रव्यलिंगी को सभी घातिकर्मों का बन्ध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है; तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को और देशव्रती को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कर्मों का बन्ध तो है नहीं, और अप्रत्याख्यानी आदि का बन्ध अल्प स्थिति-अनुभाग सहित होता है। अतः ये मोक्षमार्गी हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षमार्गी नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में किया गया है। इस प्रकरण में पण्डित टोडरमलजी स्पष्ट करना चाहते हैं कि अभिप्राय में विपरीतता होने के कारण द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षमार्गी नहीं है, अतः उसे महाव्रतादिरूप आचरण तथा महामन्दकषाय होने पर भी उसकी अपेक्षा तीव्र कषायवाले अव्रत-सम्यग्दृष्टि से भी हीन बताया गया है। उसकी हीनता को आगम-प्रमाणों से पुष्ट करते हुए वे पृष्ठ 258 पर लिखते हैं :-

**"समयसार शास्त्र में द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता गाथा, टीका और कलशों में प्रगट की है। तथा पञ्चास्तिकाय टीका में जहाँ केवल व्यवहारनयावलम्बी का कथन किया है, वहाँ व्यवहार पञ्चाचार होने पर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है। तथा प्रवचनसार में संसारतत्त्व द्रव्यलिंगी को कहा है। परमात्मप्रकाशदि अन्य शास्त्रों में भी इस व्याख्यान को स्पष्ट किया है। द्रव्यलिङ्गी के जो जप-तप शील, संयमादि क्रियायें पाई जाती हैं, उन्हें भी इन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ अकार्यकारी बताया है, सो वहाँ देख लेना यहाँ ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते हैं।**

**इसप्रकार केवल व्यवहाराभास के अवलम्बी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया।"**

पण्डितजी के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनके चिन्तन में अभिप्राय की भूल का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, अन्यथा वे द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता के प्रतिपादक आगम प्रमाण न देते।

द्रव्यलिंगी के अभिप्राय में विपरीतता सम्बन्धी इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अभिप्राय अर्थात् श्रद्धा की परिणति, क्रिया और शुभभावों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र होती है। विषय-कषायरूप क्रिया और परिणामवाले सम्यग्दृष्टि का अभिप्राय सही होता है तथा महाव्रतादिरूप क्रिया और परिणामवाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि का अभिप्राय विपरीत होता है। विपरीत अभिप्रायवाले जीव को निगोद से लेकर नवमें ग्रैवेयक तक जाने योग्य परिणाम हो सकते हैं, तथा यथार्थ अभिप्रायवाला जीव भी देवगति में असंख्यात वर्षों तक रह सकता है।

प्रश्न :- 'अभिप्राय की भूल' प्रकरण प्रारम्भ करते हुए पहले आप लिख आए हैं कि हमारा उद्देश्य किसी की निन्दा-प्रशंसा करना नहीं है; फिर आप यहाँ द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता क्यों बता रहे हैं ?

उत्तर :- अरे भाई ! यहाँ तो उसके प्रथम गुणस्थानवर्ती होने से उसके मोक्षमार्गी न होने की यथार्थ स्थिति का ज्ञान कराया है। इसमें निन्दा का आशय नहीं है। हमने भी तो अनन्त बार ऐसी दशा धारण की है, अतः यह हमारी स्वयं की बात है, दूसरों की नहीं। पण्डितजी ने स्वयं आठवें अधिकार के चरणानुयोग प्रकरण में द्रव्यलिंगी को सम्यग्दृष्टि द्वारा वन्दनीय कहा है। उनका मूल कथन निम्नानुसार है :-

"यहाँ कोई प्रश्न करे—सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे ?

समाधान :- व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिए जैसे— कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है;

उसीप्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है –ऐसा जानना।''

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करने के लिए अभिप्राय की भूल मिटाना जरूरी है और अभिप्राय की भूल स्पष्ट करने के लिए द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ उसकी निन्दा का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :- आप भले निन्दा न कहें, परन्तु हम तो इसे निन्दा ही समझेंगे?

उत्तर :- भाई ! यदि निन्दा ही समझना हो तो अपनी स्वयं की निन्दा समझना, दूसरों की नहीं; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से होता है । अपनने भी पहले अनन्तबार द्रव्यलिंग धारण करके भी विपरीत अभिप्राय का नाश नहीं किया, अतः अभी तक संसार में भ्रमण कर रहे हैं। अतः अपने विपरीत अभिप्राय की न केवल निन्दा करना चाहिए, अपितु वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझकर उसे अतिशीघ्र छोड़ देना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि यहाँ द्रव्यलिंगी मुनि किसी व्यक्ति विशेष का परिचायक नहीं है। यह भूल तो हम-आप सभी कर रहे हैं। अतः यह सैद्धान्तिक निरूपण है, व्यक्तिगत नहीं।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि दूसरों का मूल्यांकन उनकी बाह्य-क्रिया से करना चाहिए, परन्तु अपना स्वयं का मूल्यांकन अपने परिणाम और अभिप्राय से करना चाहिए; मात्र बाह्य-क्रिया से नहीं। दूसरों की मात्र क्रिया ही दिखती है और परिणाम तो क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं तथा अभिप्राय और भी गहरी गुप्त गुफा में छिपा रहता है। अतः दूसरों का मूल्यांकन क्रिया से ही सम्भव है और यही उचित भी है। लोक में भी यही व्यवस्था है। अपना परिणाम तो हम स्वयं जानते ही हैं और परिणामों की

परम्परा का सूक्ष्म निरीक्षण करके अपने अभिप्राय को भी यथासम्भव जान सकते हैं हमारे सुख-दुःख का सम्बन्ध भी अभिप्राय और परिणामों से है; अतः अपने अभिप्राय की भूल तुरन्त दूर करना चाहिए।

प्रश्न :- दूसरों का मूल्यांकन उनकी बाह्य क्रिया से करना चाहिए– इस कथन का आशय क्या है ? क्या क्रिया मात्र से उसे पापी या धर्मात्मा मान लिया जाए ?

उत्तर :- बाह्य क्रिया में पाप-पुण्य या धर्म नहीं है, अतः क्रिया मात्र से किसी को पापी या धर्मात्मा मानने का प्रश्न नहीं है, परन्तु मानना न मानना अलग बात है और उसके साथ प्रेम विनय सम्मान आदि का व्यवहार अलग बात है। वह तो उसकी सत् क्रियाओं के आधार पर ही सम्भव है। इसीप्रकार लोक-निन्द्य पाप क्रियाओं के आधार पर ही किसी की उपेक्षा या उसे सदुपदेश देने का व्यवहार होता है। शुभ क्रियाओं की प्रशंसा, अनुमोदना, प्रोत्साहन आदि करना तथा अशुभ क्रियाओं की निन्दा करना– यही क्रिया के आधार पर दूसरों का मूलयांकन है।

प्रश्न :- क्रिया परिणाम और अभिप्राय में पहले कौन सुधरता है ?

उत्तर :- यह दूसरे अध्याय में ही कहा जा चुका है कि क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का यह क्रम तो स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा रखा गया है। सुधार की अपेक्षा विचार किया जाए तो अभिप्राय सुधरे बिना परिणाम और क्रिया नहीं सुधरते, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होता। अतः पहले अभिप्राय सुधरता है फिर परिणाम और क्रिया सुधरते हैं ? अतः सुधार की अपेक्षा अभिप्राय, परिणाम और क्रिया – यह क्रम समझना चाहिए।

प्रश्नः- अभिप्राय की भूल बताते समय तो यही कहा गया है कि द्रव्यलिंगी मुनि की क्रिया और परिणाम तो सुधर गए हैं, परन्तु अभिप्राय

नहीं सुधरा है; अतः उसे मोक्षमार्ग नहीं होता; फिर पहले अभिप्राय सुधरता है – यह नियम कहाँ रहा ?

उत्तर :- द्रव्यलिंगी की क्रिया और परिणामों को सुधरा या बिगड़ा नहीं कहा गया है। मात्र इतना ही कहा गया है कि महाव्रतादिरूप आचरण तथा महामन्दकषाय होने पर भी उसके अभिप्राय में भूल रहती है। द्रव्यलिंगी की क्रिया आगमानुकूल होती है तथा उसके परिणाम भी क्रिया के अनुकूल शुभरूप होते हैं; उन्हें व्यवहार दृष्टि से सुधरा हुआ भी कहा जाता है। वास्तव में क्रिया पर परिणामों का उपचार करके उसे सुधरा या बिगड़ा कहा जाता है। परिणाम यदि राग-द्वेषरूप हों तो बिगड़े हुए हैं तथा कषायों का अभाव हो तो सुधरे कहे जायेंगे।

प्रश्न :- परिणामों को सुधरा या बिगड़ा किस आधार पर कहा जाता है ?

उत्तर :- प्रयोजन या उद्देश्य के आधार से ही परिणाम सुधरे या बिगड़े कहे जायेंगे। यदि किसी को ब्रह्मचर्य व्रत लेने के परिणाम हों तो आत्महित की अपेक्षा यह परिणाम सुधरा कहा जाएगा तथा गृहस्थजीवन में प्रवेश और कुलवृद्धि करने के लिए यही परिणाम बिगड़ा हुआ कहा जाएगा। यहाँ तो मुक्ति का प्रयोजन है, अतः जो परिणाम मुक्ति के कारण हैं, वे सब सुधरे हुए ही हैं, तथा जो परिणाम बन्ध के कारण हैं, वे सब बिगड़े हुए हैं। मिथ्या अभिप्राय के साथ होने वाले शुभ परिणाम और शुभ क्रिया भी मिथ्यापने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न :- यदि अभिप्राय, परिणामों व क्रिया से निरपेक्ष और स्वतन्त्र है, तो अभिप्राय का स्वरूप समझने तथा अभिप्राय की विपरीतता दूर करने के लिए क्यों कहा जा रहा है ? इस पुस्तक को लिखने की आवश्यकता भी क्या है ?

उत्तर :- अभिप्राय यद्यपि परिणामों से निरपेक्ष है, तथापि परिणामों

की योग्यता ऐसी है कि जब तक विपरीत अभिप्राय रहता है तब तक कषाय का अभाव अर्थात् वीतरागता का अंश भी प्रारम्भ नहीं होता। निरपेक्षता की मर्यादा मात्र इतनी है कि विपरीत अभिप्राय के होते हुए भी तीव्रतम से लेकर मन्दतम कषाय अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल – ये सभी लेश्याएँ हो सकती हैं ; परन्तु कषाय का अभाव नहीं हो सकता।

परिणामों की भी ऐसी स्वतन्त्र योग्यता है कि सम्यक् अभिप्राय अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय तो नहीं होती, परन्तु अप्रत्याख्यान कषाय के उदय में अव्रत-सम्यग्दृष्टि को भी छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। जब मात्र प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का उदय रहता है तब पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ ही होती हैं।

विपरीत अभिप्राय सहित चारों आयु का बन्ध हो सकता है, परन्तु सम्यक् अभिप्राय होने पर मनुष्य को देवायु का और देव को मनुष्यायु का ही बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन होने पर भले असंख्यात वर्ष लग जायें, परन्तु भव तो बहुत अल्प रह जाते हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर अल्पकाल में मुक्ति अवश्य होती है, अर्थात् सम्पूर्ण कषायों का क्षय अवश्य होता है। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से किञ्चित् कम समय तक उसकी संसार में रहने की अधिकतम स्थिति है। अनादि-अनन्त काल प्रवाह में तो यह समय समुद्र में एक बूँद के समान ही है।

इस प्रकार अभिप्राय और परिणाम स्वतन्त्र होने पर भी उनमें इतना सम्बन्ध अवश्य है कि विपरीत अभिप्राय के रहते हुए संसार-भ्रमण का अन्त नहीं हो सकता और सम्यक् अभिप्राय के रहते हुए अधिक समय तक संसार में ही नहीं रह सकता। इस अपेक्षा से परस्पर सापेक्ष भी कहे जा सकते हैं।

प्रश्न :- अभिप्राय का बिगड़ना या सुधरना क्या है ?

उत्तर :- मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की भूल अर्थात् मिथ्या

दर्शन-ज्ञान ही बिगड़ा हुआ अभिप्राय है; जिसकी चर्चा जिनागम में मिथ्यात्व के रूप में की गई है। प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान ही सुधरा हुआ अर्थात् सम्यक् अभिप्राय है; जिसकी चर्चा सम्यक्त्व के रूप में जिनागम में उपलब्ध है।

प्रश्न :- आपने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार के आधार पर ही अभिप्राय की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त इस विषय का वर्णन और कहाँ उपलब्ध है ?

उत्तर :- चारों अनुयोगों में वीतरागता का पोषण करते हुए वस्तु-स्वरूप का वर्णन है, अतः सभी अनुयोग प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से अभिप्राय को सम्यक् बनाने का कथन करते हैं। जिनागम के प्रत्येक प्रकरण की यथार्थ समझ सम्यक्-अभिप्राय की पोषक है। विशेषरूप से द्रव्यानुयोग में अज्ञानी की मान्यता अथवा मिथ्यात्व के रूप में मिथ्या-अभिप्राय का तथा ज्ञानी की मान्यता अथवा तत्त्वों के प्रतिपादन के रूप में सम्यक्-अभिप्राय का ही वर्णन है। समयसारादि पञ्च परमागम में सम्यग्दर्शन और उसके विषय का ही विभिन्न अपेक्षाओं से वर्णन किया गया है। नियमसार में वर्णित पूजित, पञ्चम, परमपारिणामिकभाव तथा समयसार की प्रतिपाद्य वस्तु नवतत्त्वों में छुपी हुई आत्मज्योति.... इत्यादि सभी प्रकरण सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ अभिप्राय के लिए ही हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक के चौथे से सातवें अधिकार में मिथ्या-अभिप्राय का विस्तृत वर्णन करके उस पर सशक्त प्रहार किया गया है। आठवें और नवमें अधिकार में अभिप्राय को सम्यक् बनाने का उपाय बताया गया है। योगसार, परमात्मप्रकाश, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि सभी ग्रन्थ वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन करके मिथ्यात्व का नाश करने के लिए ही लिखे गए हैं। तत्त्वार्थसूत्रादि आगमग्रन्थ भी व्यवहारनय के द्वारा वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप बताते हैं। न्याय शैली में लिखे गए सभी ग्रन्थ भी एकान्तमत का खण्डन करके सर्वज्ञप्रणीत अनेकान्त शासन की विजय-पताका फहराते हैं।

इस युग में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने 45 वर्षों तक मिथ्यात्व के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद करके अभिप्राय में परिवर्तन अर्थात् सम्यग्दर्शन का ही सन्देश दिया है। उनके प्रवचनों को गम्भीरता से सुनकर और पढ़कर हम भी अभिप्राय की विपरीतता दूर करने का सच्चा पुरुषार्थ कर सकते हैं।

प्रश्न :- अभिप्राय की यथार्थता के लिए आत्मा का निर्णय किस प्रकार होना चाहिए ?

उत्तर :- सर्वप्रथम अपनी वर्तमान ज्ञानपर्याय में जीवादितत्त्वों का यथार्थ निर्णय होना चाहिए। जिनागम में वर्णित द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों अथवा निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का यथार्थ निर्णय करने के पश्चात् दृष्टि अर्थात् श्रद्धा का विषयभूत एक, अखण्ड, सामान्यरूप ज्ञायकभाव ही मैं हूँ – ऐसी दृष्टि होना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान स्वरूप सन्मुख होने पर निर्विकल्प आत्मध्यान प्रगट होता है, जिसके फल में सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होते हैं और क्रमशः चारित्र में वृद्धि होते हुए मोक्ष फल प्रगट होता है।

प्रश्न :- क्या शास्त्राभ्यास करने से ऐसी दृष्टि हो सकती है ?

उत्तर :- भाई ! यथार्थदृष्टि या द्रव्यदृष्टि तो वस्तु-स्वरूप को यथार्थ समझने से होती है। शास्त्राभ्यास भी तत्त्वनिर्णय का बाह्य साधन है। यदि नय-विवक्षा न समझकर विपरीत दृष्टि से शास्त्राभ्यास करे तो विपरीत निर्णय होने से विपरीत अभिप्राय ही पुष्ट होता है। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि को भी 11 अंग 9 पूर्व तक का ज्ञान हो जाता है, परन्तु उसकी दृष्टि विपरीत ही रहती है, इसलिए अपने मूल प्रयोजन की मुख्यता से यथार्थ दृष्टि की प्रधानता रखकर शास्त्राभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न :- यथार्थ दृष्टि की प्रधानता से क्या आशय है ?

उत्तर :- यथार्थ दृष्टि की प्रधानता अर्थात् ज्ञायकस्वभाव की प्रधानता,

क्योंकि ज्ञायकस्वभाव ही दृष्टि का विषय है। अतः शास्त्रों के प्रत्येक प्रकरण का ज्ञान, मात्र जानने के प्रयोजन से नहीं, अपितु स्वभाव की रुचि के पोषण के प्रयोजन से करना चाहए। सदैव 'मैं ज्ञायक हूँ' यही रुचि पुष्ट होना चाहिए। हमारी चिन्तनधारा ही दृष्टिप्रधान हो जाना चाहिए। अरे .......पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की बात तो दूर, पर्यायों के कर्तृत्व का रस भी ढीला पड़ कर नष्ट हो जाना चाहिए। 'मैं अज्ञानी हूँ, मुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, राग का अभाव करना है' – ऐसे विकल्प भी पर्याय की मुख्यता से होते हैं, अतः ज्ञान में इन्हें गौण करके दृष्टि में इनका निषेध वर्तना चाहिए।

प्रश्न :- 'मुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है' – ऐसे विकल्प तो आत्मार्थी को होते ही हैं। पण्डित द्यानतरायजी ने भी लिखा है – 'धिक-धिक जीवन समकित बिना।' अतः ऐसे विकल्पों का निषेध कैसे किया जा सकता है ? क्या इससे स्वच्छन्दता नहीं आएगी ?

उत्तर :- भाई ! ऐसे विकल्प परिणाम(पर्याय) की अपेक्षा हैं, जबकि यहाँ अभिप्राय अर्थात् श्रद्धा या दृष्टि के विषय की बात चल रही है। इसलिए तो कहा था कि नय-विवक्षा समझते हुए शास्त्राभ्यास करना चाहिए। जो बात या विचार परिणामों की अपेक्षा यथार्थ हैं, प्रशंसनीय हैं, वही बात या विचार अभिप्राय की अपेक्षा निषिद्ध हैं; क्योंकि यदि उन्हें अभिप्राय की अपेक्षा भी यथार्थ मान लिया जाए तो ज्ञायकस्वभाव की मुख्यता छूट जाने से मिथ्यात्व का ही पोषण होगा। ज्ञायक की मुख्यता में परिणामों का निषेध होने से स्वच्छन्दता नहीं, सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न :- 'मुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, मुनि बनकर केवलज्ञान प्रगट करना है' इत्यादि विकल्परूप अभिप्राय में ज्ञायक की मुख्यता कैसे छूट जाएगी ? श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे' ? लिखकर मुनि बनने की तथा सर्वज्ञ होने की भावना भाई है ?

उत्तर :- ज्ञायकभाव तो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद से रहित सहज ज्ञायक ही है, उसमें तो बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भी भेद नहीं है; तो 'मैं मिथ्यादृष्टि हूँ, मुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है' - ऐसे विकल्प ज्ञायक की मुख्यता वाली दृष्टि में कैसे हो सकते हैं ? ऐसे विकल्प तो परिणामों की मुख्यता में ही सम्भव हैं। यदि अभिप्राय में परिणामों की मुख्यता रही तो ज्ञायक की मुख्यता छूट जाएगी और मिथ्यात्व का ही पोषण होगा। ज्ञायक की मुख्यतावाली दृष्टि का स्वर तो ऐसा होता है कि 'परिणाम परिणम गया और मैं यूँ का यूँ रह गया।' पूज्य गुरुदेव श्री का यह वाक्य प्रसिद्ध है 'द्रव्यदृष्टि ते ज सम्यग्दृष्टि' अर्थात् द्रव्यदृष्टिवन्त जीव ही सम्यग्दृष्टि हैं।

इस प्रकार दृष्टिप्रधान विचारों के निमित्त से ज्ञायक सम्बन्धी विचार विकल्प भी छूट जाते हैं और दृष्टि, स्वभाव में जम जाती है, सहज निर्विकल्प दशा हो जाती है, मिथ्या-अभिप्राय पलटकर सम्यक् हो जाता है, परिणामों में वीतरागता का अंश प्रगट हो जाता है और क्रिया भी भूमिकानुसार परिणामों के अनुकूल सहज हो जाती है।

प्रश्न :- यदि दृष्टि में परिणामों की मुख्यता से मिथ्यात्व होता है, तो जिनागम में अधिकाँश कथन परिणामों की मुख्यता से क्यों किए गए हैं ?

उत्तर :- अरे भाई ! परिणाम भी तो वस्तु का स्वरूप हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में औदयिक आदि पाँचों भावों को जीव का स्वतत्त्व कहा गया है। इसलिए परिणामों को जानने का निषेध कैसे किया जा सकता है ? यदि जानने की अपेक्षा भी उनका निषेध करेंगे तो हेय-उपादेय का ज्ञान कैसे होगा ? अतः परिणामों का सर्वथा निषेध करना तो मिथ्या एकान्त है।

क्या करना है ? इसका उत्तर परिणामों को यथार्थ जानने से मिलता है और कैसे करना है ? इसका उत्तर द्रव्य-स्वभाव को जानकर उस पर दृष्टि करने से मिलता है। अतः परिणामों का निषेध, सर्वथा नहीं अपितु

कथञ्चित् अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा किया गया है, और इस अपेक्षा से किया भी जाना चाहिए; क्योंकि जब तक परिणामों पर दृष्टि रहेगी; अर्थात् उनमें अहंपना रहेगा, तब तक त्रिकाली स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाएगी और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होगा। दृष्टि में परिणामों का निषेध होना सम्यक् एकान्त है तथा ज्ञान में भी परिणामों का निषेध होना मिथ्या एकान्त है। त्रिकाली स्वभाव एवं परिणामों का यथार्थ ज्ञान सम्यक् अनेकान्त है तथा इन दोनों को समानरूप से उपादेय मानना मिथ्या अनेकान्त है।

जिनागम में आत्महित के प्रयोजन से पुण्य-पापरूपभावों का तथा उनके फल का बहुत वर्णन है। इतना ही नहीं बल्कि परिणामों का उपचार क्रिया पर करके क्रिया की भाषा में भी बहुत उपदेश दिया गया है। सारा चरणानुयोग और प्रथमानुयोग इसी शैली से लिखा गया है तथा द्रव्यानुयोग में परिणामों में एकत्व और कर्तृत्त्वबुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने के प्रयोजन से पर्यायों से भिन्न त्रिकाली ज्ञायकभाव का वर्णन किया गया है।

प्रश्न :- करणानुयोग में वर्णित कर्मप्रकृतियों तथा भूगोल आदि के वर्णन से आत्महित के प्रयोजन की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर :- यदि हमें स्वर्ग-नरक तीन लोक आदि का सामान्य ज्ञान भी नहीं होगा, तो पुण्य-पाप का यथार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि पुण्य-पाप का फल भोगने के स्थान ये ही हैं। यदि पुण्य-पाप का फल सिद्ध न हो तो जीव का संसार-भ्रमण, जन्म-मरण आदि भी सिद्ध न होंगे। फिर पर्यायों से दृष्टि हटाकर द्रव्यदृष्टि करने की क्या आवश्यकता रह जाएगी ? इसी प्रकार कर्मप्रकृतियों की भाषा में जीव के विकारीभावों तथा बाह्य संयोग-वियोग की व्यवस्था का वर्णन किया जाता है। अतः करणानुयोग भी आत्महित के प्रयोजन की सिद्धि में सहायक है।

इन विषयों की गहराई और सूक्ष्मता से समझने से सर्वज्ञता और सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की महिमा आती है। अतः दृष्टि को स्वभाव सन्मुख होने का बल मिलता है।

इसप्रकार विभिन्न बिन्दुओं से क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का विवेचन किया गया।

प्रश्न :- इस विषय को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :- आत्महित के लिए इस प्रकरण को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसे समझने से वस्तु-स्वरूप का निम्नानुसार यथार्थ निर्णय होता है।

(1) आत्मा बाह्य-क्रियाओं का कर्ता-भोक्ता नहीं है।
(2) मात्र बाह्याचरण से धर्म अर्थात् मुक्तिमार्ग नहीं होता।
(3) मात्र शुभ-परिणामों से धर्म अर्थात् मुक्तिमार्ग नहीं होता।
(4) अभिप्राय में विपरीतता के रहते हुए परिणामों में वीतरागता का अंश भी प्रगट नहीं हो सकता।
(5) पर्यायों से दृष्टि हटाकर द्रव्य-स्वभाव में दृष्टि देने से ही अभिप्राय सम्यक् होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

इसप्रकार यथार्थ तत्त्व-निर्णय होने से दृष्टि स्वभाव सन्मुख होने पर तत्काल मुक्तिमार्ग प्रगट होता है।

हम सभी इस विषय को गहराई से समझकर जिनागम के आलोक में वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करके एक, अभेद, सामान्य, नित्य, ज्ञायकभाव की अनुभूति से अभिप्राय और परिणामों को स्वसन्मुख करके अपुनर्भवरूप शाश्वत सिद्धपद प्राप्त करें – इसी भावना से यह प्रकरण पूर्ण करता हूँ।

---

**प्रश्न –**

1. *व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? उनका संक्षिप्त स्वरूप बताइये ?*
2. *पण्डित टोडरमलजी ने क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की चर्चा किस प्रकरण में और किस प्रकार की है ?*

3. *"बाह्य क्रिया पर तो इनकी दृष्टि है, परिणाम सुधरनेबिगड़ने का विचार नहीं है" – इस कथन की व्याख्या कीजिए ?*
4. *परिणामों का सुधरना या बिगड़ना क्या है ? स्पष्ट कीजिये ?*
5. *व्यवहाराभासी के धर्माचरण में होने वाली विकृतियों का विश्लेषण कीजिए ?*
6. *हमारी भक्ति पूजा आदि में पाई जानी वाली विकृतियों की चर्चा कीजिये ?*
7. *उपवास की क्रिया में अज्ञानी के परिणामों की विकृति का वर्णन कीजिए ? इस सन्दर्भ में क्रिया और परिणामों का सुमेल कैसे होता है ?*
8. *'परिणामों की परम्परा' का आशय स्पष्ट कीजिये ?*
9. *'अभिप्राय की वासना' का स्वरूप उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये?*
10. *महाव्रत धारण करने पर भी अज्ञानी के अभिप्राय में क्या भूल रह जाती है, विस्तृत विवेचन कीजिए ?*
11. *मिथ्यादृष्टि मुनि और सम्यग्दृष्टि अव्रती के क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का तुलनात्मक विवेचन कीजिए ?.*
12. *विषयसेवन और परिषहादि सहने में अज्ञानी और ज्ञानी के परिणामों की तुलनात्मक विवेचन कीजिये ?*
13. *अभिप्राय, परिणाम और क्रिया को सुधारने का क्या उपाय है ? क्या शास्त्राभ्यास करने से अभिप्राय और परिणाम सुधर सकते हैं ?*
14. *क्रिया परिणाम अभिप्राय की कसौटी पर स्वयं का और दूसरों का मूल्यांकन किस प्रकार करना चाहिए ?*
15. *सम्यक् अभिप्राय कैसा होता है ?*

***

# क्रिया, परिणाम और अभिप्राय के वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(नोट – यद्यपि 4 उत्तरों में एक से अधिक उत्तर भी सही हो सकते हैं, तथापि यहाँ अध्याय की विषय वस्तु के आधार पर उत्तर का चयन करके खाली स्थान भरें।)

## अध्याय-1

प्रश्न 1: जीव साधिक दो हजार सागर ............. स्वर्ग में बिताता है।

(1) 740 सागर (2) 1320 सागर
(3) 66 सागर (4) 1260 सागर

प्रश्न 2: मिथ्यात्वी जीव को अधिकतम........... क्षयोपशमज्ञान होता है।

(1) 11 अंग का (2) 11 अंग 14 पूर्व का
(3) 11 अंग 9 पूर्व का (4) 12 अंग का

## अध्याय-2

प्रश्न 3: ..........अंतरंग स्वरूप नहीं जानने से पुरुषार्थ की विपरीतता रहती है।

(1) लोक (2) रत्नत्रय
(3) शास्त्र (4) अरहंत

प्रश्न 4: क्रिया, परिणाम और अभिप्राय का वर्णन..........प्रकरण में आता है।

(1) व्यवहाराभासी (2) निश्चयाभासी
(3) उभयाभासी (4) सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टी

प्रश्न 5: बिना पैकिंग (आवरण) के ..........हैं।

(1) सिद्ध जीव (2) पुद्गल परमाणु
(3) धर्मास्तिकाय (4) उपरोक्त सभी

प्रश्न 6: परिणाम..........की पर्याय है।

(1) सुख (2) चारित्र
(3) दर्शनमोह (4) क्षयोपशम ज्ञान

## अध्याय-3

प्रश्न 7: क्रिया-परिणाम में ..........सम्बन्ध है।

(1) परिणाम-परिणामी (2) कर्त्ता-कर्म
(3) निमित्त-नैमित्तिक (4) निषेध्य- निषेधक

प्रश्न 8: चतुर्थ गुणस्थान में मुख्यतः ...........में निर्मलता आती है।

(1) श्रद्धा (2) ज्ञान

(3) श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र (4) ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य

प्रश्न 9: अभिप्राय की विपरीतता में .......... निमित्त है।

(1) चारित्रमोह (2) दर्शनमोह

(3) क्रिया (4) परपदार्थ

## अध्याय-4

प्रश्न10: सूक्ष्मता से स्थूलता के क्रम में क्रिया-परिणाम-अभिप्राय का क्रम .....है।

(1) क्रिया-परिणाम-अभिप्राय (2) परिणाम-क्रिया-अभिप्राय

(3) क्रिया-अभिप्राय-परिणाम (4) अभिप्राय-परिणाम-क्रिया

प्रश्न11: परिणाम की दशा........... निर्धारित होती है।

(1) गुरूजी द्वारा (2) क्रिया द्वारा

(3) अभिप्राय द्वारा (4) फल द्वारा

## अध्याय-5

प्रश्न 12: जीवन पर सीधा प्रभाव...........का पड़ता है।

(1) क्रिया (2) परिणाम

(3) अभिप्राय (4) उपरोक्त सभी

प्रश्न 13: वास्तिवक सुख दुख का सम्बन्ध...........है।

(1) क्षयोपशम (2) राग-द्वेष

(3) अभिप्राय (4) क्रिया

प्रश्न 14: जीव...........का फल भोगता है।

(1) परिणामों (2) क्रिया-परिणामों

(3) अभिप्राय-परिणामों (4) कर्मों

## अध्याय-6

प्रश्न 15: व्यवहाराभासियों में...........बेईमान मिथ्यादृष्टी है।

(1) कुल अपेक्षा धर्मधारक (2) परीक्षा रहित आज्ञानुसारी

(3) धर्मबुद्धि से धर्मधारक (4) सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक

प्रश्न 16: ...........बिगड़ा परिणाम कहलाता है।

(1) निम्नोक्त कोई नहीं (2) क्रिया से विपरीत
(3) अभिप्राय से विपरीत (4) क्रिया-अभिप्राय से विपरीत

प्रश्न 17: अभिप्राय की यथार्थता अयथार्थता...........आधारित है।

(1) वस्तुस्वरूपानुसार (2) क्रियानुसार
(3) परणिामानुसार (4) लौकिक मान्यतानुसार

प्रश्न 18: पण्डित टोडरमलजी ने वासना का अर्थ...........किया है।

(1) मन की विपरीतता (2) सात तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान
(3) विषय-भोग की लालसा (4) परस्त्री के प्रति बुरा भाव

प्रश्न 19: ...........से क्रिया-परिणाम में संतुलन हो सकता है।

(1) ध्यान लगाने (2) शास्त्र पढ़ने
(3) रागादि दूर होने (4) उपरोक्त सभी

प्रश्न 20: मात्र द्रव्यलिंगी का गुणस्थान...........है।

(1) पहला (2) तीसरा
(3) चौथा (4) पहले से पाँचवे तक

प्रश्न 21: किसी जीव को...........फल मिलता है।

(1) अपनी प्रतीति अनुसार (2) शास्त्रानुसार
(3) कृत-साधनानुसार (4) ज्ञानानुसार

प्रश्न 22: घातिकर्म का बंध...........होता है।

(1) कषाय शक्ति के अनुसार (2) बाह्यप्रवृति के अनुसार
(3) क्रिया अनुसार (4) उपरोक्त कोई नहीं

प्रश्न 23: सम्यक्त्वी द्रव्यलिंगी की भक्ति...........के कारण करता है।

(1) सम्यक्त्व (2) व्यवहारधर्म
(3) लोक मान्यता (4) नम्रता

प्रश्न 24: सुधरने की अपेक्षा क्रिया-परिणाम-अभिप्राय का क्रम...........है।

(1) अभिप्राय-परिणाम-क्रिया (2) अभिप्राय-क्रिया-परिणाम
(2) परिणाम-क्रिया-अभिप्राय (4) क्रिया-परिणाम-अभिप्राय

***

# हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

| ग्रन्थ का नाम | मूल्य (रु.) | ग्रन्थ का नाम | मूल्य (रु.) |
|---|---|---|---|
| मोक्षशास्त्र | 60.00 | सुखी होने का उपाय भाग 6,7 | 10.00 |
| चौबीस तीर्थंकर महापुराण/जिनवाणी संग्रह | 50.00 | जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय | 10.00 |
| समयसार | 50.00 | आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार | 10.00 |
| रत्नकरण्डश्रावकाचार/मो.प्र. 3,4 | 40.00 | कालजयी बनारसीदास/अहिंसा के पथ पर | 10.00 |
| मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1 | 35.00 | दृष्टि का विषय/क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका | 10.00 |
| प्रवचनसार (जयसेनाचार्य) | 32.00 | णमोकार महामंत्र एक अनुशीलन | 10.00 |
| प्रवचनसार/नियमसार/प्रवचनरत्नाकर-11 | 30.00 | बालबोध भाग 1,2,3 | 8.00 |
| हरिवंशकथा/अष्टपाहुड़/मोक्षमार्ग प्रकाशक | 30.00 | तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2 | 8.00 |
| क्षत्रचुड़ामणि | 30.00 | छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव | 8.00 |
| सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-2 (उत्तरार्द्ध) | 30.00 | शीलवान सुदर्शन/जैन नर्सरी | 8.00 |
| समयसार नाटक/मो.प्र.2/समयसार का सार | 25.00 | सुखी होने का उपाय भाग 2,3 | 8.00 |
| सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 2पू. एवं भाग-3 | 25.00 | प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान | 8.00 |
| शलाका पुरुष/दिव्यध्वनिसार प्रवचन | 25.00 | क्रमबद्धपर्याय/बारसाणुवेक्खा | 8.00 |
| समयसार अनुशीलन 1,5/भावदीपिका | 25.00 | आप कुछ भी कहो | 8.00 |
| बृहदद्रव्य संग्रह/जिनेन्द्र अर्चना/सिद्धचक्र वि. | 25.00 | बीस तीर्थंकर विधान/170 तीर्थंकर विधान | 7.00 |
| योगसार प्रवचन/तीनलोक मंडल विधान | 20.00 | सुखी होने का उपाय भाग 1 से 4 | 7.00 |
| समयसार कलश/चिन्तन की गहराइयाँ | 20.00 | पंचपरमेष्ठी विधान/गागर में सागर | 7.00 |
| प्रवचनरत्नाकर भाग 3,4,8,9,10 | 20.00 | पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव | 6.00 |
| समाधितंत्र प्रवचन/आत्मानुशासन/नयप्रज्ञापन | 20.00 | जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 13 तक | 6.00 |
| पं. टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व | 20.00 | जिनवरस्य नयचक्रम् | 6.00 |
| समयसार अनुशीलन भाग 2 से 4 | 20.00 | णमोकार महामंत्र | 6.00 |
| परमभावप्रकाशक नयचक्र | 20.00 | वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5 | 6.00 |
| आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व | 20.00 | चौंसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय | 6.00 |
| पंचास्तिकाय संग्रह/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव | 18.00 | दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव | 6.00 |
| ज्ञानगोष्ठी/संस्कार/रामकहानी | 18.00 | विचार के पत्र विकार के नाम | 6.00 |
| इन भावों का फल क्या होगा | 18.00 | आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम | 5.00 |
| इन्द्रध्वज विधान/गुणस्थान विवेचन | 18.00 | परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/रत्नत्रय विधान | 5.00 |
| कार्तिकेयानुप्रेक्षा/प्रवचन रत्नाकर भाग-6 | 16.00 | युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार | 5.00 |
| कल्पद्रुम विधान/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 16.00 | अलिंग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका | 5.00 |
| बिखरे मोती/सत्य की खोज | 16.00 | मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप | 4.00 |
| सुक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/धवलासार | 15.00 | वीर हिमाचल तैं निकसी | 4.00 |
| धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला/सम्यग्दर्शन | 15.00 | समयसार कलश पद्यानुवाद | 4.00 |
| सुखी जीवन | 14.00 | समयसार : मनीषियों की दृष्टि में | 4.00 |
| निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व/भक्तामर प्रवचन | 12.00 | व्रती की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान | 3.00 |
| बारह भावना : एक अनुशीलन | 12.00 | मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद | 3.00 |
| तीर्थंकर भ. महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ | 12.00 | महावीर वन्दना (कलेण्डर) | 3.00 |
| श्रावकधर्मप्रकाश/चौबीस तीर्थंकर विधान | 11.00 | वस्तु स्वातंत्र्य/भारत-बाहुबली नाटक | 3.00 |
| पंचपरमेश्वर नन्दीश्वर विधान/विचित्र महोत्सव | 11.00 | शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति | 3.00 |
| वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3 | 10.00 | मैं स्वयं भगवान हूँ/रीति-नीति | 3.00 |
| वी.वि. प्रवचन भाग 4/चौबीस तीर्थंकर पूजा | 10.00 | | |
| तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान | 10.00 | | |